॥ श्रीहरिः ॥

434▲

शरणागति

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र-निवेदन

हमारे श्रद्धेय एवं गीताप्रेमी भाई-बहनोंके सुपरिचित स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजने श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायका बहुत सुन्दर विवेचन किया है, जिसे 'गीताका सार' नामक पुस्तकके रूपमें प्रकाशित किया गया है। गीताका सार अठारहवाँ अध्याय है और अठारहवें अध्यायका भी सार उसका ६६वाँ श्लोक है। इस श्लोकमें भगवान्‌ने सम्पूर्ण धर्मोंका त्याग करके अपनी शरणमें आनेकी आज्ञा दी, जिसे अर्जुनने '**करिष्ये वचनं तव**' कहकर स्वीकार किया और अपने क्षात्र-धर्मके अनुसार युद्ध भी किया। यहाँ जिज्ञासा होती है कि सम्पूर्ण धर्मोंका त्याग करनेकी जो बात भगवान्‌ने कही है, उसका तात्पर्य क्या है? इस जिज्ञासाकी पूर्ति इस श्लोकका विवेचन पढ़नेसे हो जाती है।

दूसरी बात, जब अर्जुन '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**'(गीता २।७)कहकर भगवान्‌की शरण हुए तो उस शरणागतिमें कुछ कमी रही। उस कमीकी पूर्ति अठारहवें अध्यायके ६६वें श्लोकमें हुई। इसलिये इस श्लोकके विवेचनमें भगवत्-शरणागति और शरणागत भक्तके विषयमें बहुत विशेष बातें आयी हैं।

उपर्युक्त बातोंको दृष्टिमें रखते हुए 'गीताका सार' पुस्तकमें आये ६६वें श्लोकका विवेचन साधकोंके लाभके लिये अलगसे प्रकाशित किया जा रहा है। इसके अनुसार साधक अपना

जीवन बना ले तो उसका कल्याण निश्चित है; क्योंकि शरणागतके कल्याणका भार (जिम्मेवारी) भगवान् अपनेपर लेते हैं। इसीलिये भगवान्‌ने इस श्लोकमें आश्वासन दिया है कि 'मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर।'

पाठकोंसे विनम्र निवेदन है कि इस पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़ें और तदनुसार अपना जीवन बनायें।

—**प्रकाशक**

ॐ

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥
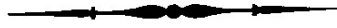
शरणागति

[श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायके ६६ वें श्लोकका विस्तृत विवेचन]

न विद्या येषां श्रीर्न शरणमपीषन्न च गुणाः
परित्यक्ता लोकैरपि वृजिनयुक्ताः श्रुतिजडाः।
शरण्यं यं तेऽपि प्रसृतगुणमाश्रित्य सुजना
विमुक्तास्तं वन्दे यदुपतिमहं कृष्णममलम्॥

'जिनके पास न विद्या है, न धन है, न कोई सहारा है; जिनमें न कोई गुण है, न वेद-शास्त्रोंका ज्ञान है; जिनको संसारके लोगोंने पापी समझकर त्याग दिया है, ऐसे प्राणी भी जिन शरणागतपालक प्रभुकी शरण लेकर संत बन जाते और मुक्त हो जाते हैं, उन विश्वविख्यात गुणोंवाले अमलात्मा यदुनाथ श्रीकृष्णभगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ।'

श्लोक—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

'सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रयका त्याग करके एक मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर।'

व्याख्या—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय, धर्मके निर्णयका विचार छोड़कर

अर्थात् क्या करना है और क्या नहीं करना है—इसको छोड़कर केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा।

स्वयं भगवान्‌के शरणागत हो जाना—यह सम्पूर्ण साधनोंका सार है। इसमें शरणागत भक्तको अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता; जैसे—पतिव्रताका अपना कोई काम नहीं रहता। वह अपने शरीरकी सार-सँभाल भी पतिके नाते, पतिके लिये ही करती है। वह घर, कुटुम्ब, वस्तु, पुत्र-पुत्री और अपने कहलानेवाले शरीरको भी अपना नहीं मानती, प्रत्युत पतिदेवका ही मानती है। तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार पतिव्रता पतिके परायण होकर पतिके गोत्रमें ही अपना गोत्र मिला देती है और पतिके ही घरपर रहती है, उसी प्रकार शरणागत भक्त भी शरीरको लेकर माने जानेवाले गोत्र, जाति, नाम आदिको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित करके निश्चिन्त, निर्भय, नि:शोक और नि:शंक हो जाता है।

गीताके अनुसार यहाँ '**धर्म**' शब्द कर्तव्य-कर्मका वाचक है। कारण कि इसी अध्यायके इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक '**स्वभावजं कर्म**' पद आये हैं, फिर सैंतालीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें '**स्वधर्म**' पद आया है। उसके बाद, सैंतालीसवें श्लोकके ही उत्तरार्द्धमें तथा (प्रकरणके अन्तमें) अड़तालीसवें श्लोकमें '**कर्म**' पद आया है। तात्पर्य यह हुआ कि आदि और अन्तमें '**कर्म**' पद आया है और बीचमें '**स्वधर्म**' पद आया है तो इससे स्वत: ही '**धर्म**' शब्द कर्तव्य-कर्मका वाचक सिद्ध हो जाता है।

अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि '**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' पदसे क्या धर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्मका स्वरूपसे त्याग माना जाय?

इसका उत्तर यह है कि धर्मका स्वरूपसे त्याग करना न तो गीताके अनुसार ठीक है और न यहाँके प्रसंगके अनुसार ही ठीक है; क्योंकि भगवान्‌की यह बात सुनकर अर्जुनने कर्तव्य-कर्मका त्याग नहीं किया है, प्रत्युत '**करिष्ये वचनं तव**' (१८।७३) कहकर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार कर्तव्य-कर्मका पालन करना स्वीकार किया है। केवल स्वीकार ही नहीं किया है, प्रत्युत अपने क्षात्र-धर्मके अनुसार युद्ध भी किया है। अतः उपर्युक्त पदमें धर्म अर्थात् कर्तव्यका त्याग करनेकी बात नहीं है। भगवान् भी कर्तव्यके त्यागकी बात कैसे कह सकते हैं? भगवान्‌ने इसी अध्यायके छठे श्लोकमें कहा है कि यज्ञ, दान, तप और अपने-अपने वर्ण-आश्रमोंके जो कर्तव्य हैं, उनका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उनको जरूर करना चाहिये*।

* तीसरे अध्यायमें तो भगवान्‌ने कर्तव्य-कर्मको न छोड़नेके लिये प्रकरण-का-प्रकरण ही कहा है—कर्मोंको त्यागनेसे न तो निष्कर्मताकी प्राप्ति होती है और न सिद्धि ही होती है (३।४); कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (३।५); जो बाहरसे कर्मोंको त्यागकर भीतरसे विषयोंका चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी है(३।६); जो मन-इन्द्रियोंको वशमें करके कर्तव्य-कर्म करता है, वही श्रेष्ठ है (३।७); कर्म किये बिना शरीरका निर्वाह भी नहीं होता, इस वास्ते कर्म करना चाहिये (३।८); 'कर्मणा बध्यते जन्तुः'—इस बन्धनके भयसे भी कर्मोंका त्याग करना उचित नही है; क्योंकि केवल कर्तव्य-पालनके लिये कर्म करना बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत कर्तव्य-कर्मकी परम्परा सुरक्षित रखनेके सिवाय अपने लिये कुछ भी कर्म करना ही बन्धनकारक है (३।९); ब्रह्माजीने कर्तव्यसहित प्रजाकी रचना करके कहा कि इस कर्तव्य-कर्मसे ही तुमलोगोंकी वृद्धि होगी और यही कर्तव्य-कर्म तुमलोगोंको कर्तव्य-सामग्री देनेवाला होगा (३।१०); मनुष्य और देवता—दोनों ही कर्तव्यका पालन करते हुए कल्याणको प्राप्त होंगे (३।११); जो कर्तव्यका पालन किये बिना प्राप्त सामग्रीका उपभोग करता है, वह चोर है (३।१२); कर्तव्य-कर्म करके अपना निर्वाह करनेवाला सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है और

गीताका पूरा अध्ययन करनेसे यह मालूम होता है कि मनुष्यको किसी भी हालतमें कर्तव्य-कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। अर्जुन तो युद्धरूप कर्तव्य-कर्म छोड़कर भिक्षा माँगना श्रेष्ठ समझते थे (२। ५), परंतु भगवान्ने इसका निषेध किया (२। ३१—३८)। इससे भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ स्वरूपसे धर्मोंका त्याग नहीं है।

अब विचार यह करना है कि यहाँ सम्पूर्ण धर्मोंके त्यागसे क्या लेना चाहिये? गीताके अनुसार सम्पूर्ण धर्मों यानी कर्मोंको भगवान्के अर्पित करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इसमें सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रयका त्याग करना और केवल भगवान्का आश्रय लेना—दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं। धर्मका आश्रय लेनेवाले बार-बार जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं—'**एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते**' (गीता ९। २१)। इस वास्ते धर्मका आश्रय त्यागकर भगवान्का ही आश्रय

जो केवल अपने लिये ही कर्म करता है, वह पापी पापका ही भक्षण करता है (३। १३); कर्तव्य-पालनसे ही सृष्टिचक्र चलता है, परंतु जो सृष्टिमें रहकर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, उसका जीना व्यर्थ है (३। १६); आसक्तिसे रहित होकर कर्तव्य-कर्म करनेवाला मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है (३। १९); जनकादि ज्ञानीजन भी कर्तव्य-कर्म करनेसे सिद्धिको प्राप्त हुए हैं, लोकसंग्रहकी दृष्टिसे भी कर्तव्य-कर्म करना चाहिये (३। २०); भगवान् अपना उदाहरण देते हुए कहते हैं कि अगर मैं सावधान रहकर कर्तव्य-कर्म न करूँ तो मैं वर्णसंकरताका उत्पादक और लोकोंका नाश करनेवाला बनूँ (३। २३-२४); ज्ञानी पुरुषको भी आसक्तिरहित होकर आस्तिक अज्ञानीकी तरह अपना कर्तव्य-कर्म करना चाहिये (३। २५); ज्ञानीको चाहिये कि वह अज्ञानियोंमें बुद्धिभेद पैदा न करके कर्तव्यका अच्छी तरहसे पालन करते हुए उनसे भी वैसे ही कराये (३। २६)। इस प्रकार तीसरे अध्यायमें भगवान्ने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करनेमें बड़ा जोर दिया है।

लेनेपर फिर अपने धर्मका निर्णय करनेकी जरूरत नहीं रहती। आगे अर्जुनके जीवनमें ऐसा हुआ भी है।

अर्जुनका कर्णके साथ युद्ध हो रहा था। इस बीच कर्णके रथका चक्का पृथ्वीमें धँस गया। कर्ण रथसे नीचे उतरकर रथके चक्केको निकालनेका उद्योग करने लगा और अर्जुनसे बोला कि 'जबतक मैं यह चक्का निकाल न लूँ, तबतक तुम ठहर जाओ; क्योंकि तुम रथपर हो और मैं रथसे रहित हूँ और दूसरे कार्यमें लगा हुआ हूँ। ऐसे समय रथीको उचित है कि उसपर बाण न छोड़े। तुम सहस्रार्जुनके समान शस्त्र और शास्त्रके ज्ञाता हो और धर्मको जाननेवाले हो, इसलिये मेरे ऊपर प्रहार करना उचित नहीं है।' कर्णकी बात सुनकर अर्जुन बाण नहीं चलाते। तब भगवान् कर्णसे कहते हैं कि 'तुम्हारे-जैसे आततायीको किसी तरहसे मार देना धर्म ही है, पाप नहीं;[१] क्योंकि आततायीके छहों लक्षण तुम्हारेमें हैं[२] और अभी-अभी तुम छः महारथियोंने

१- आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।

(मनु० ८।३५०-३५१)

'अपना अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना विचार किये ही मार डालना चाहिये। आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं लगता।'

२-अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः॥

(वसिष्ठ० ३।१९)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत, धनका हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों ही आततायी हैं।'

मिलकर अकेले अभिमन्युको घेरकर उसे मार डाला। इस वास्ते धर्मकी दुहाई देनेसे कोई लाभ नहीं है। हाँ, यह सौभाग्यकी बात है कि इस समय तुम्हें धर्मकी बात याद आ रही है, पर जो स्वयं धर्मका पालन नहीं करता, उसे धर्मकी दुहाई देनेका कोई अधिकार नहीं है।' ऐसा कहकर भगवान्‌ने अर्जुनको बाण मारनेकी आज्ञा दी तो अर्जुनने बाण मारना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार यदि अर्जुन अपनी बुद्धिसे धर्मका निर्णय करते तो भूल कर बैठते; अतः उन्होंने धर्मका निर्णय भगवान्‌पर ही रखा और भगवान्‌ने धर्मका निर्णय किया भी।

अर्जुनके मनमें सन्देह था कि हमलोगोंके लिये युद्ध करना श्रेष्ठ है अथवा युद्ध न करना श्रेष्ठ है (२। ६)। यदि हम युद्ध करते हैं तो अपने कुटुम्बका नाश होता है और अपने कुटुम्बका नाश करना बड़ा भारी पाप है—'**स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात् कुलनाशनम्**'। इससे तो अनर्थ-परम्परा ही बढ़ेगी (२। ४०—४४)। दूसरी तरफ हमलोग देखते हैं तो क्षत्रियके लिये युद्धसे बढ़कर श्रेयका कोई साधन नहीं है। तो भगवान् कहते हैं कि क्या करना है और क्या नहीं करना है, क्या धर्म है और क्या अधर्म है, इस पचड़ेमें तू क्यों पड़ता है? तू धर्मके निर्णयका भार मेरेपर छोड़ दे। यही '**सर्वधर्मान्परित्यज्य**'का तात्पर्य है।

'**मामेकं शरणं व्रज**'—इन पदोंमें '**एकम्**' पद '**माम्**'का विशेषण नहीं हो सकता; क्योंकि '**माम्**' (भगवान्) एक ही हैं, अनेक नहीं। इस वास्ते '**एकम्**' पदका अर्थ '**अनन्य**' लेना ही ठीक बैठता है। दूसरी बात, अर्जुनने '**तदेकं वद निश्चित्य**' (३। २) और '**यच्छ्रेय एतयोरेकम्**' (५। १) पदोंमें भी '**एकम्**'

पदसे सांख्य और कर्मयोगके विषयमें एक निश्चित श्रेयका साधन पूछा है। उसी '**एकम्**' पदको लेकर भगवान् यहाँ यह बताना चाहते हैं कि सांख्ययोग, कर्मयोग आदि जितने भी भगवत्प्राप्तिके साधन हैं, उन सम्पूर्ण साधनोंमें मुख्य साधन एक अनन्य शरणागति ही है।

गीतामें अर्जुनने अपने कल्याणके साधनके विषयमें कई तरहके प्रश्न किये और भगवान्‌ने उनके उत्तर भी दिये। वे सब साधन होते हुए भी गीताके पूर्वापरको देखनेसे यह स्पष्ट दीखती है कि सम्पूर्ण साधनोंका सार और शिरोमणि साधन भगवान्‌के अनन्यशरण होना ही है।

भगवान्‌ने गीतामें जगह-जगह अनन्यभक्तिकी बहुत महिमा गायी है। जैसे, दुस्तर मायाको सुगमतासे तरनेका उपाय अनन्य शरणागति ही है[१] (७। १४); अनन्यचेताके लिये मैं सुलभ हूँ[२] (८। १४); परमपुरुषकी प्राप्ति अनन्य भक्तिसे ही होती है (८। २२); अनन्यभक्तोंका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ (९। २२); अनन्य भक्तिसे ही भगवान्‌को जाना, देखा तथा प्राप्त किया जा सकता है (११। ५४); अनन्य भक्तोंका मैं बहुत जल्दी उद्धार करता हूँ (१२। ६-७); गुणातीत होनेका उपाय अनन्य भक्ति ही है (१४। २६)। इस प्रकार अनन्यभक्तिकी महिमा गाकर भगवान् यहाँ पूरी गीताका सार बताते हैं—'**मामेकं शरणं व्रज**।' तात्पर्य यह कि उपाय और उपेय, साधन और साध्य मैं ही हूँ।

१-इस श्लोकमें 'एव' पद अनन्यताका ही वाचक है।

२-इस श्लोकमें 'अनन्यचेताः' पद अनन्य-आश्रयका वाचक है।

'**मामेकं शरणं व्रज**'का तात्पर्य मन-बुद्धिके द्वारा शरणागतिको स्वीकार करना नहीं है, प्रत्युत स्वयंको भगवान्‌की शरणमें ले जाना है। कारण कि स्वयंके शरण होनेपर मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि भी उसीमें आ जाते हैं, अलग नहीं रहते।

'**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**'—यहाँ कोई ऐसा मान सकता है कि पहले अध्यायमें अर्जुनने जो युद्धसे पाप होनेकी बातें कही थीं, उन पापोंसे छुटकारा दिलानेका प्रलोभन भगवान्‌ने दिया है। परंतु यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि जब अर्जुन सर्वथा भगवान्‌के शरण हो गया है, तब उसके पाप कैसे रह सकते हैं* और उसके लिये प्रलोभन कैसे दिया जा सकता है, अर्थात् उसके लिये प्रलोभन देना बनता ही नहीं। हाँ, पापोंसे मुक्त करनेका प्रलोभन देना हो तो वह शरणागत होनेके पहले ही दिया जा सकता है, शरणागत होनेके बाद नहीं।

'मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा।'—इसका भाव यह है कि जब तू सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर मेरी शरणमें आ गया और शरण होनेके बाद भी तुम्हारे भावों, वृत्तियों, आचरणों आदिमें फर्क नहीं पड़ा, अर्थात् उनमें सुधार नहीं हुआ; भगवत्प्रेम, भगवद्दर्शन आदि नहीं हुए और अपनेमें अयोग्यता, अनधिकारिता, निर्बलता आदि मालूम होती है तो भी उनको लेकर तुम चिन्ता या भय मत करो। कारण कि जब तुम मेरे अनन्य-शरण हो गये तो वह कमी तुम्हारी कमी कैसे रही? उसका सुधार करना तुम्हारा काम कैसे रहा? वह कमी मेरी

---

* सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस ५।४४।१)

कमी है। अब उस कमीको दूर करना, उसका सुधार करना मेरा काम रहा। तुम्हारा तो बस, एक ही काम है; वह काम है—निश्चिन्त, नि:शोक, निर्भय और नि:शंक होकर मेरे चरणोंमें पड़े रहना!* परंतु अगर तेरेमें चिन्ता, भय, वहम आदि दोष आ जायँगे तो वे शरणागतिमें बाधक हो जायँगे और सब भार तेरेपर आ जायगा। शरण होकर अपनेपर भार लेना शरणागतिमें कलंक है।

जैसे विभीषण भगवान् रामके चरणोंके शरण हो जाता है तो फिर विभीषणके दोषको भगवान् अपना ही दोष मानते हैं। एक समय विभीषणजी समुद्रके इस पार आये। वहाँ विप्रघोष नामक गाँवमें उनसे एक अज्ञात ब्रह्महत्या हो गयी। इसपर वहाँके ब्राह्मणोंने इकट्ठे होकर विभीषणको खूब मारा-पीटा, पर वे मरे नहीं। फिर ब्राह्मणोंने उन्हें जंजीरोंसे बाँधकर जमीनके भीतर एक गुफामें ले जाकर बन्द कर दिया। रामजीको विभीषणके कैद होनेका पता लगा तो वे पुष्पकविमानके द्वारा तत्काल विप्रघोष नामक गाँवमें पहुँच गये और वहाँ विभीषणका पता लगाकर उनके पास गये। ब्राह्मणोंने रामजीका बहुत आदर-सत्कार किया और कहा कि 'महाराज! इसने ब्रह्महत्या कर दी है। इसको हमने बहुत मारा, पर यह मरा नहीं।' भगवान् रामने कहा कि 'हे ब्राह्मणो! विभीषणको मैंने कल्पतककी आयु और राज्य दे रखा है, वह कैसे मारा जा सकता है! और उसको मारनेकी जरूरत ही क्या है? वह तो मेरा भक्त है। भक्तके लिये मैं

---

* काहू के बल भजन कौ, काहू के आचार।
'व्यास' भरोसे कुँवरि के, सोवत पाँव पसार॥

स्वयं मरनेको तैयार हूँ। दासके अपराधकी जिम्मेवारी वास्तवमें उसके मालिकपर ही होती है अर्थात् मालिक ही उसके दण्डका पात्र होता है। इस वास्ते विभीषणके बदलेमें आपलोग मेरेको ही दण्ड दें*।' भगवान्की यह शरणागतवत्सलता देखकर सब ब्राह्मण आश्चर्य करने लगे और उन सबने भगवान्की शरण ले ली।

तात्पर्य यह हुआ कि 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस अपनेपनके समान योग्यता, पात्रता, अधिकारता आदि कुछ भी नहीं है। यह सम्पूर्ण साधनोंका सार है। छोटा-सा बच्चा भी अपनेपनके बलपर ही आधी रातमें सारे घरको नचाता है अर्थात् जब वह रातमें रोता है तो सारे घरवाले उठ जाते हैं और उसे राजी करते हैं। इस वास्ते शरणागत भक्तको अपनी योग्यता आदिकी तरफ न देखकर भगवान्के साथ अपने अपनेपनकी तरफ ही देखते रहना चाहिये!

'**मा शुचः**'का तात्पर्य है—

(१) मेरे शरण होकर तू चिन्ता करता है, यह मेरे प्रति अपराध है, तेरा अभिमान है और शरणागतिमें कलंक है।

मेरे शरण होकर भी मेरा पूरा विश्वास, भरोसा न रखना ही मेरे प्रति अपराध है। अपने दोषोंको लेकर चिन्ता करना वास्तवमें अपने बलका अभिमान है; क्योंकि दोषोंको मिटानेमें अपनी सामर्थ्य मालूम देनेसे ही उनको मिटानेकी चिन्ता होती

---

* वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्। राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति॥
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड इष्यते। रामवाक्यां द्विजाः श्रुत्वा विस्मयादिदमब्रुवन्॥
(पद्मपुराण, पाताल० १०४। १५०-१५१)

है। हाँ, अगर दोषोंको मिटानेमें चिन्ता न होकर दुःख होता है तो दुःख होना इतना दोषी नहीं है। जैसे, छोटे बालकके पास कुत्ता आता है तो वह कुत्तेको देखकर रोता है, चिन्ता नहीं करता। ऐसे ही दोषोंका न सुहाना दोष नहीं है, प्रत्युत चिन्ता करना दोष है। चिन्ता करनेका अर्थ यही होता है कि भीतरमें अपने छिपे हुए बलका आश्रय है* और यही तेरा अभिमान है। मेरा भक्त होकर भी तू चिन्ता करता है तो तेरी चिन्ता दूर कहाँ होगी? लोग भी देखेंगे तो यही कहेंगे कि यह भगवान्‌का भक्त है और चिन्ता करता है! भगवान् इसकी चिन्ता नहीं मिटाते! तू मेरा विश्वास न करके चिन्ता करता है तो विश्वासकी कमी तो है तेरी और कलंक आता है मेरेपर, मेरी शरणागतिपर। इनको तू छोड़ दे।

(२) तेरे भाव, वृत्तियाँ, आचरण शुद्ध नहीं हुए हैं तो भी तू इनकी चिन्ता मत कर। इनकी चिन्ता मैं करूँगा।

(३) दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें अर्जुन भगवान्‌के शरण हो जाते हैं और फिर आठवें श्लोकमें कहते हैं कि इस भूमण्डलका धन-धान्यसे सम्पन्न निष्कण्टक राज्य मिलनेपर अथवा देवताओंका आधिपत्य मिलनेपर भी इन्द्रियोंको सुखानेवाला मेरा शोक दूर नहीं हो सकता। भगवान् मानो कह रहे हैं कि

* कौरवोंकी सभामें द्रौपदीका चीर खींचा गया तो द्रौपदी अपनी साड़ीको हाथोंसे, दाँतोंसे पकड़ती है और भगवान्‌को पुकारती है। अपने बलका आश्रय रखते हुए भगवान्‌को पुकारनेसे भगवान्‌के आनेमें देरी लगती है। परंतु जब द्रौपदी अपना उद्योग सर्वथा छोड़कर भगवान्‌पर ही निर्भर हो जाती है तो दु:शासन चीरको खींच-खींचकर थक जाता है और चीरोंका ढेर लग जाता है, पर द्रौपदीका कोई भी अंग उघड़ता नहीं।

तेरा कहना ठीक ही है; क्योंकि भौतिक नाशवान् पदार्थोंके सम्बन्धसे किसीका शोक कभी दूर हुआ नहीं, हो सकता नहीं और होनेकी सम्भावना भी नहीं। परंतु मेरी शरण लेकर जो तू शोक करता है, यह तेरी बड़ी भारी गलती है। तू मेरे शरण होकर भी भार अपने सिरपर ले रहा है।

(४) शरणागत होनेके बाद भक्तको लोक-परलोक, सद्‌गति-दुर्गति आदि किसी भी बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। इस विषयमें किसी भक्तने कहा है—

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरित शारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

'हे नरकासुरका अन्त करनेवाले प्रभो! आप मेरेको चाहे स्वर्गमें रखें, चाहे भूमण्डलपर रखें और चाहे यथेच्छ नरकमें रखें अर्थात् आप जहाँ रखना चाहें, वहाँ रखें। जो कुछ करना चाहें वह करें। इस विषयमें मेरा कुछ भी कहना नहीं है। मेरी तो एक यही माँग है कि शरद्-ऋतुके कमलकी शोभाको तिरस्कृत करनेवाले आपके अति सुन्दर चरणोंका मृत्यु-जैसी भयंकर अवस्थामें भी चिन्तन करता रहूँ; आपके चरणोंको भूलूँ नहीं।'

विशेष बात

शरणागत भक्त 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' इस भावको दृढ़तासे पकड़ लेता है, स्वीकार कर लेता है तो उसकी चिन्ता, भय, शोक, शंका आदि दोषोंकी जड़ कट जाती है अर्थात् दोषोंका आधार कट जाता है। कारण कि भक्तिकी दृष्टिसे सभी दोष भगवान्‌की विमुखतापर ही टिके रहते हैं।

भगवान्‌के सम्मुख होनेपर भी संसार और शरीरके आश्रयके संस्कार रहते हैं, जो भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ता होनेपर मिट जाते हैं[1]। उनके मिटनेपर सब दोष भी मिट जाते हैं।

सम्बन्धका दृढ़ होना क्या है? चिन्ता, भय, शोक, शंका, परीक्षा और विपरीत भावनाका न होना ही सम्बन्धका दृढ़ होना है। अब इनपर विचार करें।

(१) निश्चिन्त होना—जब भक्त अपनी मानी हुई वस्तुओं-सहित अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देता है, तब उसको लौकिक-पारलौकिक किंचिन्मात्र भी चिन्ता नहीं होती अर्थात् अभी जीवन-निर्वाह कैसे होगा? कहाँ रहना होगा? मेरी क्या दशा होगी? क्या गति होगी? आदि चिन्ताएँ बिलकुल नहीं रहतीं।[2]

भगवान्‌के शरण होनेपर शरणागत भक्तमें यह एक बात आती है कि 'अगर मेरा जीवन प्रभुके लायक सुन्दर और शुद्ध नहीं बना तो भक्तोंकी बात मेरे आचरणमें कहाँ आयी? अर्थात् नहीं आयी; क्योंकि मेरी वृत्तियाँ ठीक नहीं रहतीं।' वास्तवमें 'मेरी वृत्तियाँ हैं' ऐसा मानना ही दोष है, वृत्तियाँ उतनी दोषी नहीं हैं। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिमें जो मेरापन है—यही गलती है; क्योंकि जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया और जब सब कुछ उनके समर्पित कर दिया तो मन, बुद्धि आदि मेरे कहाँ

१- भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ता होनेपर जब संसार-शरीरका आश्रय सर्वथा नहीं रहता, तब जीनेकी आशा, मरनेका भय, करनेका राग और पानेकी लालच— ये चारों ही नहीं रहते।

२-चिन्ता दीनदयालको, मो मन सदा अनन्द।
जायो सो प्रतिपालसी, रामदास गोबिन्द॥

रहे? इस वास्ते शरणागतको मन, बुद्धि आदिकी अशुद्धिकी चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिये अर्थात् मेरी वृत्तियाँ ठीक नहीं हैं—ऐसा भाव कभी नहीं लाना चाहिये। किसी कारणवश अचानक ऐसी वृत्तियाँ आ भी जायँ तो आर्तभावसे 'हे मेरे नाथ! हे मेरे प्रभो! बचाओ! बचाओ!! बचाओ!!!' ऐसे प्रभुको पुकारना चाहिये; क्योंकि वे मेरे अपने स्वामी हैं, मेरे सर्वसमर्थ प्रभु हैं तो अब मैं चिन्ता क्यों करूँ? और भगवान्‌ने भी कह दिया है कि 'तू चिन्ता मत कर' (**मा शुचः**)। इस वास्ते मैं निश्चिन्त हूँ—ऐसा कहकर मनसे भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाओ और निश्चिन्त होकर भगवान्‌से कह दो—'हे नाथ! यह सब आपके हाथकी बात है, आप जानो।'

सर्वसमर्थ प्रभुके शरण भी हो गये और चिन्ता भी करें—ये दोनों बातें बड़ी विरोधी हैं; क्योंकि शरण हो गये तो चिन्ता कैसी? और चिन्ता होती है तो शरणागति कैसी? इस वास्ते शरणागतको ऐसा सोचना चाहिये कि जब भगवान् यह कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण पापोंसे छुड़ा दूँगा तो क्या ऐसी वृत्तियोंसे छूटनेके लिये मेरेको कुछ करना पड़ेगा? 'मैं तो बस, आपका हूँ। हे भगवन्! मेरेमें वृत्तियोंको अपना माननेका भाव कभी आये ही नहीं। हे नाथ! शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि—ये कभी मेरे दीखें ही नहीं। परंतु हे नाथ! सब कुछ आपको देनेपर भी ये शरीर आदि कभी-कभी मेरे दीख जाते हैं; अब इस अपराधसे मेरेको आप ही छुड़ाइये'—ऐसा कहकर निश्चिन्त हो जाओ।

(२) **निर्भय होना**—आचरणोंकी कमी होनेसे भीतरसे भय पैदा होता है और साँप, बिच्छू, बाघ आदिसे बाहरसे भय पैदा

होता है। शरणागत भक्तके ये दोनों ही प्रकारके भय मिट जाते हैं। इतना ही नहीं, पतंजलि महाराजने जिस मृत्युके भयको पाँचवाँ क्लेश माना है[१] और जो बड़े-बड़े विद्वानोंको भी होता है[२], वह भय भी सर्वथा मिट जाता है[३]।

अब मेरी वृत्तियाँ खराब हो जायँगी—ऐसा भयका भाव भी साधकको भीतरसे ही निकाल देना चाहिये; क्योंकि 'मैं भगवान्‌की कृपामें तरान्तर हो गया हूँ, अब मेरेको किसी बातका भय नहीं है। इन वृत्तियोंको मेरी माननेसे ही मैं इनको शुद्ध नहीं कर सका; क्योंकि इनको मेरी मानना ही मलिनता है—**'ममता मल जरि जाइ'** (मानस ७। ११७ क)। इस वास्ते अब मैं कभी भी इनको मेरी नहीं मानूँगा। जब वृत्तियाँ मेरी हैं ही नहीं तो मेरेको भय किस बातका? अब तो केवल भगवान्‌की कृपा-ही-कृपा है! भगवान्‌की कृपा ही सर्वत्र परिपूर्ण हो रही है। यह बड़ी खुशीकी, बड़ी प्रसन्नताकी बात है।'

लोग ऐसी शंका करते हैं कि भगवान्‌के शरण होकर उनका भजन करनेसे तो द्वैत हो जायगा अर्थात् भगवान् और भक्त—ये

१- अविद्यास्मितारागद्वेषभिनिवेशाः क्लेशाः। (योगदर्शन २।३)

२- स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। (योगदर्शन २।९)

३- तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥
(श्रीमद्भा० १०।२।३३)

'भगवन्! जो आपके भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी ज्ञानाभिमानियोंकी तरह अपने साधनसे गिरते नहीं। प्रभो! वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवाली सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय होकर विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकते।'

दो हो जायँगे और दूसरेसे भय होता है—'**द्वितीयाद्वै भयं भवति**'। पर यह शंका निराधार है। भय द्वितीयसे तो होता है, पर आत्मीयसे भय नहीं होता अर्थात् भय दूसरेसे होता है, अपनेसे नहीं। प्रकृति और प्रकृतिका कार्य शरीर-संसार द्वितीय है, इस वास्ते इनसे सम्बन्ध रखनेपर ही भय होता है; क्योंकि इनके साथ सदा सम्बन्ध रह ही नहीं सकता। कारण यह है कि प्रकृति और पुरुषका स्वभाव सर्वथा भिन्न-भिन्न है; जैसे एक जड़ है और एक चेतन; एक विकारी है और एक निर्विकार; एक परिवर्तनशील है और एक अपरिवर्तनशील; एक प्रकाश्य है और एक प्रकाशक इत्यादि।

भगवान् द्वितीय नहीं हैं। वे तो आत्मीय हैं; क्योंकि जीव उनका सनातन अंश है, उनका स्वरूप है। इस वास्ते भगवान्‌के शरण होनेपर उनसे भय कैसे हो सकता है? प्रत्युत उनके शरण होनेपर मनुष्य सदाके लिये अभय हो जाता है। स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो बच्चेको माँसे दूर रहनेपर तो भय होता है, पर माँकी गोदीमें चले जानेपर उसका भय मिट जाता है; क्योंकि माँ उसकी अपनी है। भगवान्‌का भक्त इससे भी विलक्षण होता है। कारण कि बच्चे और माँमें तो भेदभाव दीखता है, पर भक्त और भगवान्‌में भेदभाव सम्भव ही नहीं है।

(३) निःशोक होना—जो बात बीत चुकी है, उसको लेकर शोक होता है। बीती हुई बातको लेकर शोक करना बड़ी भारी भूल है; क्योंकि जो हुआ है, वह अवश्यम्भावी था और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी हो ही नहीं सकता तथा अभी जो हो रहा है, वह ठीक-ठीक (वास्तविक) होनेवाला

ही हो रहा है, फिर उसमें शोक करनेकी कोई बात ही नहीं है*। प्रभुके इस मंगलमय विधानको जानकर शरणागत भक्त सदा निःशोक रहता है, शोक उसके पास कभी आता ही नहीं।

(४) निःशंक होना—भगवान्‌के सम्बन्धमें कभी यह सन्देह न करें कि मैं भगवान्‌का हुआ या नहीं? भगवान्‌ने मुझे स्वीकार किया या नहीं? प्रत्युत इस बातको देखें कि 'मैं तो अनादिकालसे भगवान्‌का ही था, भगवान्‌का ही हूँ और आगे भी सदा भगवान्‌का ही रहूँगा। मैंने ही अपनी मूर्खतासे अपनेको भगवान्‌से अलग—विमुख मान लिया था। परंतु मैं अपनेको भगवान्‌से कितना ही अलग मान लूँ तो भी उनसे अलग हो सकता ही नहीं और होना सम्भव भी नहीं। अगर मैं भगवान्‌से अलग होना भी चाहूँ तो भी अलग कैसे हो सकता हूँ? क्योंकि भगवान्‌ने कहा है कि यह जीव मेरा ही अंश है—'**मम एव अंशः**' (गीता १५।७)। इस प्रकार 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस वास्तविकताकी स्मृति आते ही शंकाएँ-सन्देह मिट जाते हैं, शंकाओं-सन्देहोंके लिये किंचिन्मात्र भी गुंजाइश नहीं रहती।

(५) परीक्षा न करना—भगवान्‌के शरण होकर ऐसी परीक्षा न करें कि 'जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया हूँ तो मेरेमें ऐसे-ऐसे लक्षण घटने चाहिये। यदि ऐसे-ऐसे लक्षण मेरेमें नहीं हैं तो मैं भगवान्‌के शरण कहाँ हुआ? प्रत्युत '**अद्वेष्टा**' आदि (गीता

---

* राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥

(मानस १।१२८।१)

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

(मानस १।५२।४)

१२। १३—१९) गुणोंकी अपनेमें कमी दीखे तो आश्चर्य करे कि मेरेमें यह कमी कैसे रह गयी!* ऐसा भाव आते ही यह

---

* इसे समझनेके लिये एक ग्रामीण कहानी है। एक माँके तीन लड़के थे। दो लड़के बड़े थे और काम-धन्धा करते थे। तीसरा लड़का सीधा-सादा और भोला था। उनकी माँ मर गयी। तो दोनों बड़े भाइयोंने छोटे भाईसे कहा कि माँके फूल गंगाजीमें डाल दे, इतना काम तू कर दे। उसने कहा—बहुत ठीक है। वह माँके फूल लेकर अपने घरसे चला। घरसे गंगाजी ३०० कोस दूर थीं। पैदल रास्ता चलते-चलते वह थक गया तो किसीसे पूछा—भैया! गंगाजी कितनी दूर हैं? वह बोला— तुम तो १५० कोस आये हो, अभी १५० कोस गंगाजी और अगाड़ी हैं। उसने सोचा कि गंगाजी कब पहुँचूँगा और फिर लौटकर कब आऊँगा! ऐसे दु:खी हो करके उसने वे हड्डियाँ जंगलमें ही फेंक दीं और गाँवके पाससे वर्षाका मीठा जल बर्तनमें भर लिया; क्योंकि गंगाजी जाते हैं तो लौटते वक्त गंगाजल लाते हैं। फिर वह वहाँसे पीछे चला आया और अपने गाँव पहुँच गया। बड़े भाई सोचने लगे कि अगर यह गंगाजी जाकर आता तो इतने दिनोंमें नहीं आ सकता था, यह गंगाजी गया ही नहीं। बड़े भाइयोंने उससे पूछा—तू गंगाजी जाकर आया है क्या? उसने कहा —'हाँ, गंगाजी जाकर आया हूँ; ठेठ गंगाजीके ब्रह्मकुण्डमें फूल डालकर वहाँसे गंगाजीका यह जल लाया हूँ। ऐसे वह झूठ बोल गया। भाइयोंने समझ लिया कि ठीक नहीं बोल रहा है, इस वास्ते वे चुप हो गये।

दूसरे दिन नींदसे उठकर एक भाई छोटे भाईसे बोला—'अरे भाई! तू सच्ची बात बता दे, क्या तू ठेठ गंगाजी हो आया और फूल ठेठ गंगाजीमें डाल दिये। उसने कहा—'हाँ, बिलकुल गंगाजी जाकर आया हूँ। बड़े भाईने कहा—देख, रातको स्वप्नमें मेरेको माँ मिली थी और माँने मेरेसे कहा कि इसने तो मेरेको ठेठ गंगाजी पहुँचाया ही नहीं, बीचमें ही डालकर आ गया। तो अब तू ही बता कि माँकी बात सच्ची या तेरी बात सच्ची? छोटा भाई बोला—माँ इधर ही क्यों आयी, उधर क्यों नहीं गयी? अर्थात् १५० कोस तो मैंने पहुँचा ही दिया था, यहाँ न आकर उधर ही चली जाती तो ठेठ गंगाजी पहुँच जाती!

इस कहानीका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌के शरण होनेके बाद यह कसौटी कसते हैं, परीक्षा करते हैं कि 'भक्तोंके, सन्तोंके लक्षण मेरेमें नहीं आये तो मैं

कमी नहीं रहेगी, कमी मिट जायगी। कारण कि यह उसका प्रत्यक्ष अनुभव है कि पहले अद्वेष्टा आदि गुण जितने कम थे, उतने कम अब नहीं हैं। शरणागत होनेपर भक्तोंके जितने भी लक्षण हैं, वे बिना प्रयत्न किये ही आते हैं।

(६) विपरीत धारणा न करना—भगवान्‌के शरणागत भक्तमें यह विपरीत धारणा भी कैसे हो सकती है कि 'मैं भगवान्‌का नहीं हूँ' क्योंकि यह मेरे मानने अथवा न माननेपर निर्भर नहीं है। भगवान्‌का और मेरा परस्पर जो सम्बन्ध है, वह अटूट है, अखण्ड है, नित्य है, मैंने इस सम्बन्धकी तरफ खयाल नहीं किया, यह मेरी गलती थी। अब वह गलती मिट गयी तो फिर विपरीत धारणा हो ही कैसे सकती है?

जो मनुष्य सच्चे हृदयसे प्रभुकी शरणागतिको स्वीकार कर लेता है, उसमें चिन्ता, भय, शोक आदि दोष नहीं रहते। उसका शरण-भाव स्वतः ही दृढ़ होता चला जाता है, वैसे ही, जैसे विवाह होनेके बाद कन्याका अपने पिताके घरसे सम्बन्ध-विच्छेद और पतिके घरसे सम्बन्ध स्वतः ही दृढ़ होता चला जाता है। वह सम्बन्ध यहाँतक दृढ़ हो जाता है कि जब वह कन्या दादी-परदादी बन जाती है, तब उसके स्वप्नमें भी यह भाव नहीं आता कि मैं यहाँकी नहीं हूँ। उसके मनमें यह भाव दृढ़ हो जाता है कि मैं तो यहाँकी ही हूँ और ये सब हमारे ही

भगवान्‌के शरण नहीं हुआ'—यह माँ उलटी क्यों आयी, सुलटी ही क्यों नहीं गयी कि 'जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया तो अब इन लक्षणोंकी कमी क्यों रह गयी? मेरेमें ये लक्षण क्यों नहीं आये?' ऐसी मान्यतासे तो आप शरणागत हो जाओगे और पूर्णता भी हो जायगी। परंतु यह मान्यता करोगे कि 'मेरेमें ऐसे लक्षण नहीं आये तो मैं शरण नहीं हुआ' तो धोखा हो जायगा!

हैं। जब उसके पौत्रकी स्त्री आती है और घरमें उद्दण्डता करती है, खटपट मचाती है तो वह (दादी) कहती है कि इस परायी जायी छोकरीने मेरा घर बिगाड़ दिया, पर उस बूढ़ी दादीको यह बात याद ही नहीं आती कि मैं भी तो परायी जायी (पराये घरमें जन्मी) हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि जब बनावटी सम्बन्धमें भी इतनी दृढ़ता हो सकती है, तब भगवान्‌के ही अंश इस प्राणीका भगवान्‌के साथ जो नित्य सम्बन्ध है, वह दृढ़ हो जाय तो क्या आश्चर्य है! वास्तवमें भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ताके लिये केवल संसारके माने हुए सम्बन्धोंका त्याग करनेकी ही आवश्यकता है।

सच्चे हृदयसे प्रभुके चरणोंकी शरण होनेपर उस शरणागत भक्तमें यदि किसी भाव, आचरण आदिकी किंचित् कमी रह जाय, वक्तपर विपरीत वृत्ति पैदा हो जाय अथवा किसी परिस्थितिमें पड़कर परवशतासे कभी किंचित् कोई दुष्कर्म हो जाय, तो उसके हृदयमें जलन पैदा हो जायगी। इस वास्ते उसके लिये अन्य कोई प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् कृपा करके उसके उस पापको सर्वथा नष्ट कर देते हैं[१]।

भगवान् भक्तके अपनेपनको ही देखते हैं, गुणों और अवगुणोंको नहीं[२] अर्थात् भगवान्‌को भक्तके दोष दीखते ही

१- स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः॥
(श्रीमद्भा० ११।५।४२)

'जो प्रेमी भक्त भगवान्‌के चरणोंका अनन्यभावसे भजन करता है, उसके द्वारा यदि अकस्मात् कोई पाप-कर्म बन भी जाय तो उसके हृदयमें विराजमान परमपुरुष भगवान् श्रीहरि उसे सर्वथा नष्ट कर देते हैं।'

२-रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥
(मानस १।२९।३)

नहीं, उनको तो केवल भक्तके साथ जो अपनापन है, वही दीखता है। कारण कि स्वरूपसे भक्त सदासे ही भगवान्‌का है। दोष आगन्तुक होनेसे आते-जाते रहते हैं और वह नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इस वास्ते भगवान्‌की दृष्टि इस वास्तविकतापर ही सदा जमी रहती है। जैसे, कीचड़ आदिमें सना हुआ बच्चा जब माँके सामने आता है तो माँकी दृष्टि केवल अपने बच्चेकी तरफ ही जाती है, बच्चेके मैलेकी तरफ नहीं जाती। बच्चेकी दृष्टि भी मैलेकी तरफ नहीं जाती। माँ साफ करे या न करे, पर बच्चेकी दृष्टिमें तो मैला है ही नहीं, उसकी दृष्टिमें तो केवल माँ ही है। द्रौपदीके मनमें कितना द्वेष और क्रोध भरा हुआ था कि जब दुःशासनके खूनसे अपने केश धोऊँगी, तभी केशोंको बाँधूँगी! परंतु द्रौपदी जब भी भगवान्‌को पुकारती है, भगवान् चट आ जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌के साथ द्रौपदीका गाढ़ अपनापन था।

भगवान्‌के साथ अपनापन होनेमें दो भाव रहते हैं—(१) भगवान् मेरे हैं और (२) मैं भगवान्‌का हूँ। इन दोनोंमें ही भगवान्‌का सम्बन्ध समान रीतिसे रहते हुए भी 'भगवान् मेरे हैं'—इस भावमें भगवान्‌से अपनी अनुकूलताकी इच्छा हो सकती है कि भगवान् मेरे हैं तो मेरी इच्छाकी पूर्ति क्यों नहीं करते? और 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस भावमें भगवान्‌से अपनी अनुकूलताकी इच्छा नहीं हो सकती; क्योंकि मैं भगवान्‌का हूँ तो भगवान् मेरे लिये जैसा ठीक समझें, वैसा ही निःसंकोच होकर करें। इस वास्ते साधकको चाहिये कि वह भगवान्‌की ही मर्जीमें सर्वथा अपनी मर्जी मिला दे; भगवान्‌पर अपना किंचित् भी आधिपत्य

न माने, प्रत्युत अपनेपर उनका पूरा आधिपत्य माने। कहीं भी भगवान् हमारे मनकी करें तो उसमें संकोच हो कि मेरे लिये भगवान्‌को ऐसा करना पड़ा! यदि अपने मनकी बात पूरी होनेसे संकोच नहीं होता, प्रत्युत संतोष होता है तो यह शरणागति नहीं है। शरणागत भक्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके प्रतिकूल परिस्थितिमें भी भगवान्‌की मर्जी समझकर प्रसन्न रहता है।

शरणागत भक्तको अपने लिये कभी किंचिन्मात्र भी कुछ करना शेष नहीं रहता; क्योंकि उसने सम्पूर्ण ममतावाली वस्तुओंसहित अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर दिया, जो वास्तवमें प्रभुका ही था। अब करने, कराने आदिका सब काम भगवान्‌का ही रह गया। ऐसी अवस्थामें वह कठिन-से-कठिन और भयंकर-से-भयंकर घटना, परिस्थितिमें भी अपनेपर प्रभुकी महान् कृपा मानकर सदा प्रसन्न रहता है, मस्त रहता है। जैसे, गरुड़जीके पूछनेपर काकभुशुण्डिजीने अपने पूर्वजन्मके ब्राह्मण-शरीरकी कथा सुनायी, जिसमें लोमश ऋषिने शाप देकर उन्हें (ब्राह्मणको) पक्षियोंमें नीच चाण्डाल पक्षी (कौआ) बना दिया; परंतु काकभुशुण्डिजीके मनमें न कुछ भय हुआ और न कुछ दीनता ही आयी! उन्होंने उसमें भगवान्‌का शुद्ध विधान ही समझा। केवल समझा ही नहीं, प्रत्युत मन-ही-मन बोल उठे—**'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन'** (मानस ७। ११३। १)। ऐसा भयंकर शाप मिलनेपर भी जब काकभुशुण्डिजीकी प्रसन्नतामें कोई कमी नहीं आयी, तब लोमश ऋषिने उनको भगवान्‌का प्यारा भक्त समझकर अपने पास बुलाया और बालक रामजीका ध्यान बताया। फिर भगवान्‌की कथा सुनायी और अत्यन्त प्रसन्न होकर

काकभुशुण्डिजीके सिरपर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया—'मेरी कृपासे तुम्हारे हृदयमें अबाध, अखण्ड रामभक्ति रहेगी। तुम रामजीको प्यारे हो जाओगे। तुम सम्पूर्ण गुणोंकी खान बन जाओगे। जिस रूपकी इच्छा करोगे, वह रूप धारण कर लोगे। जिस स्थानपर तुम रहोगे, उससे एक योजनपर्यन्त मायाका कण्टक किंचिन्मात्र भी नहीं आयेगा' आदि आदि। इस प्रकार बहुत-से आशीर्वाद देते ही आकाशवाणी होती है कि 'हे ऋषे! तुमने जो कुछ कहा, वह सब सच्चा होगा; यह मन, वाणी, कर्मसे मेरा भक्त है।' इन्हीं बातोंको लेकर भगवान्के विधानमें सदा प्रसन्न रहनेवाले काकभुशुण्डिजीने कहा है—

भगति पच्छ हठ करि रहेउँ दीन्हि महारिषि साप।
मुनि दुर्लभ बर पायउँ देखहु भजन प्रताप॥

(मानस ७।११४ ख)

यहाँ '**भजन प्रताप**' शब्दोंका अर्थ है—भगवान्के विधानमें हर समय प्रसन्न रहना। विपरीत-से-विपरीत अवस्थामें भी प्रेमी भक्तकी प्रसन्नता अधिक-से-अधिक बढ़ती रहती है; क्योंकि प्रेमका स्वरूप ही प्रतिक्षण वर्द्धमान है।

यह नियम है कि जो चीज अपनी होती है, वह सदैव अपनेको प्यारी लगती है। भगवान् सम्पूर्ण जीवोंको अपना प्रिय मानते हैं—'**सब मम प्रिय सब मम उपजाए**' (मानस ७। ८६। २) और इस जीवको भी प्रभु स्वतः ही प्रिय लगते हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि यह जीव परिवर्तनशील संसार और शरीरको भूलसे अपना मानकर अपने प्यारे प्रभुसे विमुख हो जाता है। इसके विमुख होनेपर भी भगवान्ने अपनी तरफसे किसी भी

जीवका त्याग नहीं किया है और न कभी त्याग कर ही सकते हैं। कारण कि जीव सदासे साक्षात् भगवान्‌का ही अंश है। इस वास्ते सम्पूर्ण जीवोंके साथ भगवान्‌की आत्मीयता अक्षुण्ण, अखण्डितरूपसे स्वाभाविक ही बनी हुई है। इसीसे वे मात्र जीवोंपर कृपा करनेके लिये अर्थात् भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना—इन तीन बातोंके लिये वक्त-वक्तपर अवतार लेते हैं*। इन तीनों बातोंमें केवल भगवान्‌की आत्मीयता ही टपक रही है, नहीं तो भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापनासे भगवान्‌का क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। भगवान् तो ये तीनों ही काम केवल प्राणिमात्रके कल्याणके लिये ही करते हैं। इससे भी प्राणिमात्रके साथ भगवान्‌की स्वाभाविक आत्मीयता, कृपालुता, प्रियता, हितैषिता, सुहृत्ता और निरपेक्ष उदारता ही सिद्ध होती है और यहाँ भी इसी दृष्टिसे अर्जुनसे कहते हैं—**'मद्भक्तो भव, मन्मना भव, मद्याजी भव, मां नमस्कुरु'**। इन चारों बातोंमें भगवान्‌का तात्पर्य केवल जीवको अपने सम्मुख करानेमें ही है, जिससे सम्पूर्ण जीव असत् पदार्थोंसे विमुख हो जायँ; क्योंकि दुःख, संताप, बार-बार जन्मना-मरना, मात्र विपत्ति आदिमें मुख्य हेतु भगवान्‌से विमुख होना ही है।

भगवान् जो कुछ भी विधान करते हैं, वह संसारमात्रके सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिये ही करते हैं—बस, भगवान्‌की

---

* परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४।८)

इस कृपाकी तरफ प्राणीकी दृष्टि हो जाय तो फिर उसके लिये क्या करना बाकी रहा? प्राणियोंके हितके लिये भगवान्‌के हृदयमें एक तड़फन है, इसी वास्ते भगवान् '**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' वाली अत्यन्त गोपनीय बात कह देते हैं। कारण कि भगवान् जीवमात्रको अपना मित्र मानते हैं—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (५। २९) और उन्हें यह स्वतन्त्रता देते हैं कि वे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन हैं, उनमेंसे किसी भी साधनके द्वारा सुगमतापूर्वक मेरी प्राप्ति कर सकते हैं और दुःख, संताप आदिको सदाके लिये समूल नष्ट कर सकते हैं।

वास्तवमें जीवका उद्धार केवल भगवत्कृपासे ही होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, अष्टांगयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग आदि जितने भी साधन हैं, वे सब-के-सब भगवान्‌के द्वारा और भगवत्तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंके द्वारा ही प्रकट किये गये हैं*। इस वास्ते इन सब साधनोंमें भगवत्कृपा ही ओतप्रोत है। साधन करनेमें तो साधक निमित्तमात्र होता है, पर साधनकी सिद्धिमें भगवत्कृपा ही मुख्य है।

शरणागत भक्तको तो ऐसी चिन्ता भी कभी नहीं करनी चाहिये कि अभी भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए, भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम नहीं हुआ, अभी वृत्तियाँ शुद्ध नहीं हुईं आदि। इस प्रकारकी चिन्ताएँ करना मानो बंदरीका बच्चा बनना है। बंदरीका बच्चा स्वयं ही बंदरीको पकड़े रहता है। बंदरी कूदे-फाँदे, किधर भी जाय, बच्चा स्वयं बंदरीसे कहीं भी चिपक जाता है।

---

* हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
(मानस ७। ४७। ३)

भक्तको तो अपनी सब चिन्ताएँ भगवान्‌पर ही छोड़ देनी चाहिये अर्थात् भगवान् दर्शन दें या न दें, प्रेम दें या न दें, वृत्तियोंको ठीक करें या न करें, हमें शुद्ध बनायें या न बनायें—यह सब भगवान्‌की मर्जीपर छोड़ देना चाहिये। उसे तो बिल्लीका बच्चा बनना चाहिये। बिल्लीका बच्चा अपनी माँपर निर्भर रहता है। बिल्ली चाहे जहाँ रखे, चाहे जहाँ ले जाय। बिल्ली अपनी मर्जीसे बच्चेको उठाकर ले जाती है तो वह पैर समेट लेता है। ऐसे ही शरणागत भक्त संसारकी तरफसे अपने हाथ-पैर समेटकर* केवल भगवान्‌का चिन्तन, नाम-जप आदि करते हुए भगवान्‌की तरफ ही देखता रहता है। भगवान्‌का जो विधान है, उसमें परम प्रसन्न रहता है, अपने मनकी कुछ भी नहीं लगाता।

जैसे, कुम्हार पहले मिट्टीको सिरपर उठाकर लाता है तो कुम्हारकी मर्जी, फिर उस मिट्टीको गीला करके उसे रौंदता है तो कुम्हारकी मर्जी, फिर चक्केपर चढ़ाकर घुमाता है तो कुम्हारकी मर्जी। मिट्टी कभी कुछ नहीं कहती कि तुम घड़ा बनाओ, सकोरा बनाओ, मटकी बनाओ। कुम्हार चाहे जो बनाये, उसकी मर्जी है। ऐसे ही शरणागत भक्त अपनी कुछ भी मर्जी मनकी बात नहीं रखता। वह जितना अधिक निश्चिन्त और निर्भय होता है, भगवत्कृपा उसको अपने-आप उतना ही अधिक अपने अनुकूल बना लेती है और जितनी वह चिन्ता

* भक्त जो कुछ काम करता है, उसको भगवान्‌का ही समझकर, भगवान्‌की ही शक्ति मानकर, भगवान्‌के ही लिये करता है, अपने लिये किंचिन्मात्र भी नहीं करता—यही उसका हाथ-पैर समेटना है।

करता है, अपना बल मानता है, उतना ही वह आती हुई भगवत्कृपामें बाधा लगाता है अर्थात् शरणागत होनेपर भगवान्‌की ओरसे जो विलक्षण, विचित्र, अखण्ड, अटूट कृपा आती है, अपनी चिन्ता करनेसे उस कृपामें बाधा लग जाती है।

जैसे, धीवर (मछुआ) मछलियोंको पकड़नेके लिये नदीमें जाल डालता है तो जालके भीतर आनेवाली सब मछलियाँ पकड़ी जाती हैं; परंतु जो मछली जाल डालनेवाले मछुएके चरणोंके पास आ जाती है, वह नहीं पकड़ी जाती। ऐसे ही भगवान्‌की माया (संसार)-में ममता करके जीव फँस जाते हैं और जन्मते-मरते रहते हैं; परंतु जो जीव मायापति भगवान्‌के चरणोंकी शरण हो जाते हैं, वे मायाको तर जाते हैं—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'** (गीता ७। १४)। इस दृष्टान्तका एक ही अंश ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि धीवरका तो मछलियोंको पकड़नेका भाव होता है; परंतु भगवान्‌का जीवोंको मायामें फँसानेका किंचिन्मात्र भी भाव नहीं होता। भगवान्‌का भाव तो जीवोंको मायाजालसे मुक्त करके अपने शरण लेनेका होता है, तभी तो वे कहते हैं—**'मामेकं शरणं व्रज'**। जीव संयोगजन्य सुखकी लोलुपतासे खुद ही मायामें फँस जाते हैं।

जैसे, चलती हुई चक्कीके भीतर आनेवाले सभी दाने पिस जाते हैं*; परंतु जिसके आधारपर चक्की चलती है, उस कीलके

---

* चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय।
दो पाटनमें आयके, साबुत बचा न कोय॥

आस-पास रहनेवाले दाने ज्यों-के-त्यों साबूत रह जाते हैं। ऐसे ही जन्म-मरणरूप संसारकी चलती हुई चक्कीमें पड़े हुए सब-के-सब जीव पिस जाते हैं अर्थात् दुःख पाते हैं; परंतु जिसके आधारपर संसार-चक्र चलता है, उन भगवान्‌के चरणोंका सहारा लेनेवाला जीव पिसनेसे बच जाता है— **'कोई हरिजन ऊबरे, कील माकड़ी पास।'** यह दृष्टान्त भी पूरा नहीं घटता; क्योंकि दाने तो स्वाभाविक ही कीलके पास रह जाते हैं। वे बचनेका कोई उपाय नहीं करते। परंतु भगवान्‌के भक्त संसारसे विमुख होकर प्रभुके चरणोंका आश्रय लेते हैं। तात्पर्य यह कि जो भगवान्‌का अंश होकर भी संसारको अपना मानता है अथवा संसारसे कुछ चाहता है, वही जन्म-मरणरूप चक्रमें पड़कर दुःख भोगता है।

संसार और भगवान्—इन दोनोंका सम्बन्ध दो तरहका होता है। संसारका सम्बन्ध केवल माना हुआ है और भगवान्‌का सम्बन्ध वास्तविक है। संसारका सम्बन्ध तो मनुष्यको पराधीन बनाता है, गुलाम बनाता है, पर भगवान्‌का सम्बन्ध मनुष्यको स्वाधीन बनाता है, चिन्मय बनाता है और बनाता है भगवान्‌का भी मालिक!

किसी बातको लेकर अपनेमें कुछ भी अपनी विशेषता दीखती है, वही वास्तवमें पराधीनता है। यदि मनुष्य विद्या, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, त्याग, वैराग्य आदि किसी बातको लेकर अपनी विशेषता मानता है तो यह उन विद्या आदिकी पराधीनता, दासता ही है। जैसे, कोई धनको लेकर अपनेमें विशेषता मानता है तो यह विशेषता वास्तवमें धनकी ही हुई, खुदकी नहीं।

वह अपनेको धनका मालिक मानता है, पर वास्तवमें वह धनका गुलाम है।

संसारका यह कायदा है कि सांसारिक पदार्थोंको लेकर जो अपनेमें कुछ विशेषता मानता है, उसको ये सांसारिक पदार्थ तुच्छ बना देते हैं, पद-दलित कर देते हैं। परंतु जो भगवान्‌के आश्रित होकर सदा भगवान्‌पर ही निर्भर रहते हैं, उनको अपनी कुछ विशेषता दीखती ही नहीं, प्रत्युत भगवान्‌की ही अलौकिकता, विलक्षणता, विचित्रता दीखती है। भगवान् चाहे उसको अपना मुकुटमणि बना लें और चाहे अपना मालिक बना लें, तो भी उसको अपनेमें कुछ भी विशेषता नहीं दीखती। प्रभुका यह कायदा है कि जिस भक्तको अपनेमें कुछ भी विशेषता नहीं दीखती, अपनेमें किसी बातका अभिमान नहीं होता, उस भक्तमें भगवान्‌की विलक्षणता उतर आती है। किसी-किसीमें यहाँतक विलक्षणता आती है कि उसके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थ भी चिन्मय बन जाते हैं। उनमें जड़ताका अत्यन्त अभाव हो जाता है। ऐसे भगवान्‌के प्रेमी भक्त भगवान्‌में ही समा गये हैं, अन्तमें उनके शरीर नहीं मिले। जैसे, मीराबाई शरीरसहित भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गयीं। केवल पहचानके लिये उनकी साड़ीका छोटा-सा छोर श्रीविग्रहके मुखमें रह गया और कुछ नहीं बचा। ऐसे ही सन्त श्रीतुकारामजी शरीरसहित वैकुण्ठ चले गये।

ज्ञानमार्गमें शरीर चिन्मय नहीं होता; क्योंकि ज्ञानी असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद करके, असत्‌से अलग होकर स्वयं चिन्मय तत्त्वमें स्थित हो जाता है। परंतु जब भक्त भगवान्‌के सम्मुख

होता है तो उसके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि सभी भगवान्‌के सम्मुख हो जाते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जिनकी दृष्टि केवल चिन्मय तत्त्वपर ही है अर्थात् जिनकी दृष्टिमें चिन्मय तत्त्वसे भिन्न जड़ताकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं होती तो वह चिन्मयता उनके शरीर आदिमें भी उतर आती है और वे शरीर आदि चिन्मय हो जाते हैं। हाँ, लोगोंकी दृष्टिमें तो उनके शरीरमें जड़ता दीखती है, पर वास्तवमें उनके शरीर चिन्मय होते हैं।

भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जानेपर शरणागतिके लिये भगवान्‌की कृपा विशेषतासे प्रकट होती ही है, पर मात्र संसारका स्नेहपूर्वक पालन करनेवाली और भगवान्‌से अभिन्न रहनेवाली वात्सल्यमयी माता लक्ष्मीका प्रभु-शरणागतपर कितना अधिक स्नेह होता है, वे कितना अधिक प्यार करती हैं, इसका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता। लौकिक व्यवहारमें भी देखनेमें आता है कि पतिव्रता स्त्रीको पितृभक्त पुत्र बहुत प्यारा लगता है।

दूसरी बात, प्रेमभावसे परिपूरित प्रभु जब अपने भक्तको देखनेके लिये गरुड़पर बैठकर पधारते हैं तो माता लक्ष्मी भी प्रभुके साथ गरुड़पर बैठकर आती हैं, जिस गरुड़की पाँखोंसे सामवेदके मन्त्रोंका गान होता रहता है! परंतु कोई भगवान्‌को न चाहकर केवल माता लक्ष्मीको ही चाहता है तो उसके स्नेहके कारण माता लक्ष्मी आ भी जाती हैं, पर उनका वाहन दिवान्ध उल्लू होता है। ऐसे वाहनवाली लक्ष्मीको प्राप्त करके मनुष्य भी मदान्ध हो जाता है। अगर उस माँको कोई भोग्या समझ

लेता है तो उसका बड़ा भारी पतन हो जाता है; क्योंकि वह तो अपनी माँको ही कुदृष्टिसे देखता है, इस वास्ते वह महान् अधम है।

तीसरी बात, जहाँ केवल भगवान्का प्रेम होता है, वहाँ तो भगवान्से अभिन्न रहनेवाली लक्ष्मी भगवान्के साथ आ ही जाती हैं, पर जहाँ केवल लक्ष्मीकी चाहना है, वहाँ लक्ष्मीके साथ भगवान् भी आ जायँ—यह नियम नहीं है।

शरणागतिके विषयमें एक कथा आती है। सीताजी, रामजी और हनुमान्जी जंगलमें एक वृक्षके नीचे बैठे थे। उस वृक्षकी शाखाओं और टहनियोंपर एक लता छायी हुई थी। लताके कोमल-कोमल तन्तु फैल रहे थे। उन तन्तुओंमें कहींपर नयी-नयी कोंपलें निकल रही थीं और कहींपर ताम्रवर्णके पत्ते निकल रहे थे। पुष्प और पत्तोंसे लता छायी हुई थी। उससे वृक्षकी सुन्दर शोभा हो रही थी। वृक्ष बहुत ही सुहावना लग रहा था। उस वृक्षकी शोभाको देखकर भगवान् श्रीराम हनुमान्जीसे बोले—'देखो हनुमान्! यह लता कितनी सुन्दर है! वृक्षके चारों ओर कैसी छायी हुई है! यह लता अपने सुन्दर-सुन्दर फल, सुगन्धित फूल और हरी-हरी पत्तियोंसे इस वृक्षकी कैसी शोभा बढ़ा रही है। इससे जंगलके अन्य सब वृक्षोंसे यह वृक्ष कितना सुन्दर दीख रहा है! इतना ही नहीं, इस वृक्षके कारण ही सारे जंगलकी शोभा हो रही है। इस लताके कारण ही पशु-पक्षी इस वृक्षका आश्रय लेते हैं। धन्य है यह लता!'

भगवान् श्रीरामके मुखसे लताकी प्रशंसा सुनकर सीताजी

हनुमान्‌जीसे बोलीं—'देखो बेटा हनुमान्! तुमने खयाल किया कि नहीं? देखो, इस लताका ऊपर चढ़ जाना, फूल-पत्तोंसे छा जाना, तन्तुओंका फैल जाना—ये सब वृक्षके आश्रित हैं, वृक्षके कारण ही हैं। इस लताकी शोभा भी वृक्षके ही कारण है। इस वास्ते मूलमें महिमा तो वृक्षकी ही है। आधार तो वृक्ष ही है। वृक्षके सहारे बिना लता स्वयं क्या कर सकती है? कैसे छा सकती है? अब बोलो हनुमान्! तुम्हीं बताओ, महिमा वृक्षकी ही हुई न?'

रामजीने कहा—'क्यों हनुमान्! यह महिमा तो लताकी ही हुई न?'

हनुमान्‌जी बोले—'हमें तो तीसरी ही बात सूझती है।'

सीताजीने पूछा—'वह क्या है बेटा?'

हनुमान्‌जीने कहा—'माँ! वृक्ष और लताकी छाया बड़ी सुन्दर है। इस वास्ते हमें तो इन दोनोंकी छायामें रहना ही अच्छा लगता है, अर्थात् हमें तो आप दोनोंकी छाया (चरणोंके आश्रय)-में रहना ही अच्छा लगता है!'

सेवक सुत पति मातु भरोसें।
रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

(मानस ४। ३। २)

ऐसे ही भगवान् और उनकी दिव्य आह्लादिनी शक्ति—दोनों ही एक-दूसरेकी शोभा बढ़ाते हैं। परंतु कोई तो उन दोनोंको श्रेष्ठ बताता है, कोई केवल भगवान्‌को श्रेष्ठ बताता है और कोई केवल उनकी आह्लादिनी शक्तिको श्रेष्ठ बताता है। शरणागत भक्तके लिये तो प्रभु और उनकी आह्लादिनी शक्ति—दोनोंका आश्रय ही श्रेष्ठ है।

एक बार एक प्रज्ञाचक्षु (नेत्रहीन) संत हाथमें लाठी पकड़े आगराके लिये यमुनाके किनारे-किनारे चले जा रहे थे। नदीमें बाढ़ आयी हुई थी। उससे एक जगह यमुनाका किनारा पानीमें गिर पड़ा तो बाबाजी भी पानीमें गिर पड़े। हाथसे लाठी छूट गयी थी। दीखता तो था ही नहीं, अब तैरें तो किधर तैरें? भगवान्‌की शरणागतिकी बात याद आते ही प्रयासरहित होकर शरीरको ढीला छोड़ दिया तो उनको ऐसा लगा कि किसीने हाथ पकड़कर किनारेपर डाल दिया। वहाँ दूसरी कोई लाठी हाथमें आ गयी और उसके सहारे वे चल पड़े। तात्पर्य यह कि जो भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌पर निर्भर रहता है, उसको अपने लिये करना कुछ नहीं रहता। भगवान्‌के विधानसे जो हो जाय, उसीमें वह प्रसन्न रहता है।

बहुत-सी भेड़-बकरियाँ जंगलमें चरने गयीं। उनमेंसे एक बकरी चरते-चरते एक लतामें उलझ गयी। उसको उस लतामेंसे निकलनेमें बहुत देर लगी, तबतक अन्य सब भेड़-बकरियाँ अपने घर पहुँच गयीं। अँधेरा भी हो रहा था। वह बकरी घूमते-घूमते एक सरोवरके किनारे पहुँची। वहाँ किनारेकी गीली जमीनपर सिंहका एक चरण-चिह्न मँढा हुआ था। वह उस चरण-चिह्नके शरण होकर उसके पास बैठ गयी। रातमें जंगली सियार, भेड़िया, बाघ आदि प्राणी बकरीको खानेके लिये पासमें जाते हैं तो वह बकरी बता देती है—'पहले देख लेना कि मैं किसकी शरणमें हूँ; तब मुझे खाना!' वे चिह्नको देखकर कहते हैं—'अरे, यह तो सिंहके चरण-चिह्नके शरण है, जल्दी भागो यहाँसे!

सिंह आ जायगा तो हमको मार डालेगा।' इस प्रकार सभी प्राणी भयभीत होकर भाग जाते हैं। अन्तमें जिसका चरण-चिह्न था, वह सिंह स्वयं आया और बकरीसे बोला—'तू जंगलमें अकेली कैसे बैठी है?' बकरीने कहा—'यह चरण-चिह्न देख लेना, फिर बात करना। जिसका यह चरण-चिह्न है, उसीके मैं शरण हुए बैठी हूँ।' सिंहने देखा, 'ओह! यह तो मेरा ही चरण-चिह्न है, यह बकरी तो मेरे ही शरण हुई!' सिंहने बकरीको आश्वासन दिया कि अब तुम डरो मत, निर्भय होकर रहो।

रातमें जब जल पीनेके लिये हाथी आया तो सिंहने हाथीसे कहा। 'तू इस बकरीको अपनी पीठपर चढ़ा ले। इसको जंगलमें चराकर लाया कर और हरदम अपनी पीठपर ही रखा कर, नहीं तो तू जानता नहीं, मैं कौन हूँ? मार डालूँगा!' सिंहकी बात सुनकर हाथी थर-थर काँपने लगा। उसने अपनी सूँड़से झट बकरीको पीठपर चढ़ा लिया। अब वह बकरी निर्भय होकर हाथीकी पीठपर बैठे-बैठे ही वृक्षोंकी ऊपरकी कोंपलें खाया करती और मस्त रहती।

खोज पकड़ सैंठे रहो, धणी मिलेंगे आय।
अजया गज मस्तक चढ़े, निर्भय कोंपल खाय॥

ऐसे ही जब मनुष्य भगवान्‌के शरण हो जाता है, उनके चरणोंका सहारा ले लेता है तो वह सम्पूर्ण प्राणियोंसे, विघ्न-बाधाओंसे निर्भय हो जाता है। उसको कोई भी भयभीत नहीं कर सकता, कोई भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

जो जाको शरणो गहै, वाकहँ ताकी लाज।
उलटे जल मछली चले, बह्यो जात गजराज॥

भगवान्‌के साथ काम, भय, द्वेष, क्रोध, स्नेह आदिसे भी सम्बन्ध क्यों न जोड़ा जाय, वह भी जीवका कल्याण करनेवाला ही होता है*। तात्पर्य यह हुआ कि काम, भय, द्वेष आदि

---

* कामाद् द्वेषाद् भयाद् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥
गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥
(श्रीमद्भा० ७।१।२९-३०)

'एक नहीं, अनेक मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर तथा सारे पाप धोकर वैसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे। जैसे, गोपियोंने कामसे, कंसने भयसे, शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि राजाओंने द्वेषसे, यदुवंशियोंने परिवारके सम्बन्धसे, तुमलोगों (युधिष्ठिर आदि)-ने स्नेहसे और हमलोगों (नारद आदि)-ने भक्तिसे अपने मनको भगवान्‌में लगाया है।'

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः॥
(श्रीमद्भा० ११।१२।३-७)

भगवान् कहते हैं—'निष्पाप उद्धवजी! यह एक युगकी नहीं सभी युगोंकी एक-सी बात है। सत्संग अर्थात् मेरे सम्बन्धद्वारा ही दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण, गुह्यक और विद्याधरोंको मेरी प्राप्ति हुई है। मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृतिके बहुत-से जीवोंने मेरा परमपद प्राप्त किया है। वृत्रासुरा, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव,

किसी तरहसे भी जिनका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ गया, उनका तो उद्धार हो ही गया, पर जिन्होंने किसी तरहसे भी भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा, उदासीन ही रहे, वे भगवत्प्राप्तिसे वंचित रह गये!

भगवान्‌के अनन्य भक्तोंके लिये नारदजीने कहा है—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।

(नारदभक्तिसूत्र ७२)

'उन भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं है।'

तात्पर्य यह कि जो सर्वथा भगवान्‌के अर्पित हो गये हैं अर्थात् जिन्होंने भगवान्‌के साथ आत्मीयता, परायणता, अनन्यता आदि वास्तविकताको स्वीकार कर लिया है तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरको लेकर सांसारिक जितने भी जाति, विद्या आदि भेद हो सकते हैं, वे सब उनपर लागू नहीं होते*। कारण कि वे अच्युत भगवान्‌के ही हैं—

विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाभार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ और दूसरे लोग भी सत्संगके प्रभावसे ही मुझे प्राप्त कर सके हैं।

उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना ही की थी। इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्संग—मेरे सम्बन्धके प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये।'

* पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः।
न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम्॥

(अध्यात्म० अरण्य० १०। २०)

'यतस्तदीयाः' (नारदभक्तिसूत्र ७३), संसारके नहीं। अच्युत भगवान्‌के होनेसे वे 'अच्युत गोत्र'के ही कहलाते हैं*।

शरणागतिका रहस्य

शरणागतिका रहस्य क्या है?—इसको वास्तवमें भगवान् ही जानते हैं। फिर भी अपनी समझमें आयी बात कहनेकी चेष्टा की जाती है; क्योंकि हरेक आदमी जो बात कहता है, उससे

'मेरे भजनमें पुरुष-स्त्रीका भेद अथवा जाति, नाम और आश्रम कारण नहीं है, प्रत्युत मेरी भक्ति ही एकमात्र कारण है।'

किं जन्मना सकलवर्णजनोत्तमेन
किं विद्यया सकलशास्त्रविचारवत्या।
यस्यास्ति चेतसि सदा परमेशभक्तिः
कोऽन्यस्ततस्त्रिभुवने पुरुषोऽस्ति धन्यः॥

(ब्र० सं० भ० १७)

'सम्पूर्ण वर्णोंमें उत्तम वर्ण (ब्राह्मण-कुल)-में जन्म होनेसे क्या हुआ? सम्पूर्ण शास्त्रोंके गहरे अध्ययनसे क्या हुआ? अर्थात् कुछ नहीं हुआ। जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति विराजमान है, इस त्रिलोकीमें उसके समान दूसरा कौन मनुष्य धन्य हो सकता है?'

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

'व्याधका कौन-सा श्रेष्ठ आचरण था? ध्रुवकी कौन-सी बड़ी उम्र थी। गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी? विदुरकी कौन-सी ऊँची जाति थी? यदुपति उग्रसेनका कौन-सा पराक्रम था? कुब्जाका कौन-सा सुन्दर रूप था? सुदामाके पास कौन-सा धन था? फिर भी उन लोगोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। कारण कि भगवान्‌को केवल भक्ति ही प्यारी है, वे केवल भक्तिसे ही संतुष्ट होते हैं, आचरण, विद्या आदि गुणोंसे नहीं।'

* पितृगोत्री यथा कन्या स्वामिगोत्रेण गोत्रिका।
श्रीरामभक्तिमात्रेणाच्युतगोत्रेण गोत्रकः॥

(नारदपंचरात्र)

वह अपनी बुद्धिका ही परिचय देता है। पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे यहाँ आयी बातोंका उलटा अर्थ न निकालें; क्योंकि प्राय: लोग किसी तात्त्विक, रहस्यवाली बातको गहराईसे समझे बिना उसका उलटा अर्थ जल्दी ले लेते हैं। इस वास्ते ऐसी बातको कहने-सुननेके पात्र बहुत कम होते हैं।

भगवान्‌ने गीतामें शरणागतिके विषयमें दो बातें बतायी हैं—(१) '**मामेकं शरणं व्रज**' (१८। ६६) 'अनन्यभावसे केवल मेरी शरणमें आ जा' (२) '**स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत**' (१५। १९) 'वह सर्वज्ञ पुरुष सर्वभावसे मेरेको भजता है,' '**तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत**' (१८। ६२) 'तू सर्वभावसे उस परमात्माकी शरणमें जा'। तो हम भगवान्‌के शरण कैसे हो जायँ? केवल एक भगवान्‌के शरण हो जायँ अर्थात् भगवान्‌के गुण, ऐश्वर्य आदिकी तरफ दृष्टि न रखें और सर्वभावसे भगवान्‌के शरण हो जायँ अर्थात् साथमें अपनी कोई सांसारिक कामना न रखें।

केवल एक भगवान्‌के शरण होनेका रहस्य यह है कि भगवान्‌के अनन्त गुण हैं, प्रभाव हैं, तत्त्व हैं, रहस्य हैं, महिमा है, लीलाएँ हैं, नाम हैं, धाम हैं; भगवान्‌का अनन्त ऐश्वर्य है, माधुर्य है, सौन्दर्य है—इन विभूतियोंकी तरफ शरणागत भक्त देखता ही नहीं। उसका यही एक भाव रहता है कि 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं। अगर वह गुण, प्रभाव आदिकी तरफ देखकर भगवान्‌की शरण लेता है तो वास्तवमें वह गुण, प्रभाव आदिके ही शरण हुआ, भगवान्‌के शरण नहीं हुआ। परंतु इन बातोंका उलटा अर्थ न लगा लें।'

उलटा अर्थ लगाना क्या है? भगवान्‌के गुण, प्रभाव, नाम, धाम, ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य आदिको मानना ही नहीं है, इनकी तरफ जाना ही नहीं है। अब कुछ करना है ही नहीं, न भजन करना है, न भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला आदि सुननी है, न भगवान्‌के धाममें जाना है—यह उलटा अर्थ लगाना है। इनका ऐसा अर्थ लगाना महान् अनर्थ करना है।

केवल एक भगवान्‌के शरण होनेका तात्पर्य है—केवल भगवान् मेरे हैं, अब वे ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं तो बड़ी अच्छी बात और कुछ भी ऐश्वर्य नहीं है तो बड़ी अच्छी बात। वे बड़े दयालु हैं तो बड़ी अच्छी बात और बड़े निष्ठुर, कठोर हैं कि उनके समान दुनियामें कोई कठोर है ही नहीं तो बड़ी अच्छी बात। उनका बड़ा भारी प्रभाव है तो बड़ी अच्छी बात और उनमें कोई प्रभाव नहीं है तो बड़ी अच्छी बात। शरणागतमें इन बातोंकी कोई परवाह नहीं होती। उसका तो एक ही भाव रहता है कि भगवान् जैसे भी हैं, हमारे हैं*। भगवान्‌की इन बातोंकी परवाह न होनेसे भगवान्‌का

---

* असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

'मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण असुन्दर हों या सुन्दर-शिरोमणि हों, गुणहीन हों या गुणियोंमें श्रेष्ठ हों, मेरे प्रति द्वेष रखते हों या करुणासिन्धु-रूपसे कृपा करते हों; वे चाहे जैसे हों, मेरी तो वे ही एकमात्र गति हैं।'

आश्लिष्य वा पादरतां निनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

'वे चाहे मुझे हृदयसे लगा लें या चरणोंमें लिपटे हुए मुझे पैरोंतले रौंद डालें अथवा दर्शन न देकर मर्माहत ही करें। वे परम स्वतन्त्र श्रीकृष्ण जैसे चाहें वैसे करें, मेरे तो वे ही प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं।'

ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, गुण, प्रभाव आदि चले जायँगे, ऐसी बात नहीं है। पर हम उनकी परवाह नहीं करेंगे तो हमारी असली शरणागति होगी।

जहाँ गुण, प्रभाव आदिको लेकर भगवान्‌की शरण होते हैं, वहाँ केवल भगवान्‌की शरण नहीं होते, प्रत्युत गुण, प्रभाव आदिकी ही शरण होते हैं; जैसे—कोई रुपयोंवाले आदमीका आदर करे तो वास्तवमें वह आदर उस आदमीका नहीं, रुपयोंका है। किसी मिनिस्टरका कितना ही आदर किया जाय तो वह आदर उसका नहीं, मिनिस्टरी (पद)-का है। किसी बलवान् व्यक्तिका आदर किया जाय तो वह उसके बलका आदर है, उसका खुदका आदर नहीं है। परंतु अगर कोई केवल व्यक्ति (धनी आदि)-का आदर करे तो इससे धनीका धन या मिनिस्टरकी मिनिस्टरी चली जायगी—यह बात नहीं है। वह तो रहेगी ही। ऐसे ही केवल भगवान्‌की शरण होनेसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदि चले जायँगे—ऐसी बात नहीं है। परंतु हमारी दृष्टि तो केवल भगवान्‌पर ही रहनी चाहिये; उनके गुण आदिपर नहीं।

सप्तर्षियोंने जब पार्वतीजीके सामने शिवजीके अनेक अवगुणोंका और विष्णुके अनेक सद्‌गुणोंका वर्णन करते हुए उन्हें शिवजीका त्याग करनेके लिये कहा तो पार्वतीजीने उन्हें यही उत्तर दिया—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

(मानस १। ८०)

ऐसी ही बात गोपियोंने भी उद्धवजीसे कही थी—

ऊधौ! मन माने की बात।
दाख छोहारा छाड़ि अमृतफल बिषकीरा बिष खात॥
जो चकोर को दै कपूर कोउ, तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरे काठ में, बँधत कमल के पात॥
ज्यों पतंग हित जान आपनो, दीपक सों लपटात।
'सूरदास' जाको मन जासों, ताको सोइ सुहात॥

भगवान्‌के प्रभाव आदिकी तरफ देखनेवालेको, उससे प्रेम करनेवालेको मुक्ति, ऐश्वर्य आदि तो मिल जायगा, पर भगवान् नहीं मिल सकते। भगवान्‌के प्रभावकी तरफ न देखनेवाला भगवत्प्रेमी भक्त ही भगवान्‌को पा सकता है। इतना ही नहीं, वह प्रेमी भक्त भगवान्‌को बाँध सकता है, उनकी भी बिक्री कर सकता है! भगवान् देखते हैं कि वह मेरेसे प्रेम करता है, मेरे प्रभावकी तरफ देखतातक नहीं तो भगवान्‌के मनमें उसका बड़ा आदर होता है।

प्रभावकी तरफ देखना यह सिद्ध करता है कि हमारेमें कुछ पानेकी कामना है। हमारे मनमें उस कामनावाले पदार्थका आदर है। जबतक हमारेमें कामना है, तबतक हम प्रभावको देखते हैं। अगर हमारे मनमें कोई कामना न रहे तो भगवान्‌के प्रभाव, ऐश्वर्यकी तरफ हमारी दृष्टि नहीं जायगी। केवल भगवान्‌की तरफ दृष्टि होगी तो हम भगवान्‌के शरण हो जायँगे, भगवान्‌के अपने हो जायँगे।

विचार करें, पूतना राक्षसी जहर लगाकर स्तन मुखमें देती है। उसको भगवान्‌ने माताकी गति दे दी*— **'जसुमति की गति**

---

* अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥
(श्रीमद्भा० ३। २। २३)

पाई' अर्थात् जो मुक्ति यशोदा मैयाको मिले, वह मुक्ति पूतनाको मिल गयी। जो मुखमें जहर देती है, उसे तो भगवान्ने मुक्ति दे दी। अब जो रोजाना दूध पिलाती है, उस मैयाको भगवान् क्या दें? तो अनन्त जीवोंको मुक्ति देनेवाले भगवान् मैयाके अधीन हो गये, उन्हें अपने आपको ही दे दिया। मैयाके इतने वशीभूत हो गये कि मैया छड़ी दिखाती है तो वे डरकर रोने लग जाते हैं। कारण कि मैयाकी भगवान्के प्रभाव, ऐश्वर्यकी तरफ दृष्टि ही नहीं है। इस प्रकार जो भगवान्से मुक्ति चाहते हैं, उन्हें भगवान् मुक्ति दे देते हैं, पर जो कुछ भी नहीं चाहता, उसे भगवान् अपने-आपको ही दे देते हैं।

सर्वभावसे भगवान्की शरण होनेका रहस्य यह है कि हमारा शरीर अच्छा है, इन्द्रियाँ वशमें हैं, मन शुद्ध निर्मल है, बुद्धिसे हम ठीक जानते हैं, हम पढ़े-लिखे हैं, हम यशस्वी हैं, हमारा संसारमें मान है—इस प्रकार 'हम भी कुछ हैं' ऐसा मानकर भगवान्की शरण होना शरणागति नहीं है। भगवान्की शरण होनेके बाद शरणागतको ऐसा विचार भी नहीं करना चाहिये कि हमारा शरीर ऐसा होना चाहिये; हमारी बुद्धि ऐसी होनी चाहिये; हमारा मन ऐसा होना चाहिये; हमारा ऐसा ध्यान लगना चाहिये; हमारी ऐसी भावना होनी चाहिये; हमारे जीवनमें ऐसे-ऐसे लक्षण आने चाहिये; हमारे ऐसे आचरण होने चाहिये; हमारेमें ऐसा प्रेम होना

'अहो! इस पापिनी पूतनाने जिसे मार डालनेकी इच्छासे अपने स्तनोंपर लगाया हुआ कालकूट विष पिलाकर भी वह गति प्राप्त की, जो धात्रीको मिलनी चाहिये, उसके अलावा और कौन दायलु है, जिसकी शरणमें जायँ!'

चाहिये कि कथा-कीर्तन सुननेपर आँसू बहने लगें, कण्ठ गद्‌गद हो जाय; पर ऐसा हमारे जीवनमें हुआ ही नहीं तो हम भगवान्‌की शरण कैसे हुए? आदि-आदि। ये बातें अनन्य शरणागतिकी कसौटी नहीं हैं। जो अनन्य शरण हो जाता है, वह यह देखता ही नहीं कि शरीर बीमार है कि स्वस्थ है? मन चंचल है कि स्थिर है? बुद्धिमें जानकारी है कि अनजानपना है? अपनेमें मूर्खता है कि विद्वत्ता है? योग्यता है कि अयोग्यता है? आदि। इन सबकी तरफ वह स्वप्नमें भी नहीं देखता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें ये सब चीजें कूड़ा-करकट हैं, जिन्हें अपने साथ नहीं लेता है। यदि इन चीजोंकी तरफ देखेगा तो अभिमान ही बढ़ेगा कि मैं भगवान्‌का शरणागत भक्त हूँ अथवा निराश होना पड़ेगा कि मैं भगवान्‌के शरण तो हो गया, पर भक्तोंके गुण (**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥** इत्यादि, गीता १२।१३—१९) तो मेरेमें आये ही नहीं! तात्पर्य यह हुआ कि अगर अपनेमें भक्तोंके गुण दिखायी देंगे तो उनका अभिमान हो जायगा और अगर नहीं दिखायी देंगे तो निराशा हो जायगी। इस वास्ते यही अच्छा है कि भगवान्‌की शरण होनेके बाद इन गुणोंकी तरफ भूलकर भी नहीं देखे। इसका यह उलटा अर्थ न लगा लें कि हम चाहे वैर-विरोध करें, चाहे द्वेष करें, चाहे ममता करें, चाहे जो कुछ करें! यह अर्थ बिलकुल नहीं है। तात्पर्य है कि इन गुणोंकी तरफ खयाल ही नहीं होना चाहिये। भगवान्‌के शरण होनेवाले भक्तमें ये सब-के-सब गुण अपने-आप ही आयेंगे, पर इनके आने या

न आनेसे उसको कोई मतलब नहीं रखना चाहिये। अपनेमें ऐसी कसौटी नहीं लगानी चाहिये कि अपनेमें ये गुण या लक्षण हैं या नहीं।

सच्चा शरणागत भक्त तो भगवान्‌के गुणोंकी तरफ भी नहीं देखता और अपने गुणोंकी तरफ भी नहीं देखता। वह भगवान्‌के ऊँचे-ऊँचे प्रेमियोंकी तरफ भी नहीं देखता कि ऊँचे प्रेमी ऐसे-ऐसे होते हैं; तत्त्वको जाननेवाले जीवन्मुक्त ऐसे-ऐसे होते हैं।

प्राय: लोग ऐसी कसौटी लगाते हैं कि यह भगवान्‌का भजन करता है तो बीमार कैसे हो गया? भगवान्‌का भक्त हो गया तो उसको बुखार क्यों आ गया? उसपर दु:ख क्यों आ गया? उसका बेटा क्यों मर गया? उसका धन क्यों चला गया? उसका संसारमें अपयश क्यों हो गया? उसका निरादर क्यों हो गया? आदि-आदि। ऐसी कसौटी कसना बिलकुल फालतू बात है, बड़े नीचे दर्जेकी बात है। ऐसे लोगोंको क्या समझायें! वे सत्संगके नजदीक ही नहीं आये, इसी वास्ते उनको इस बातका पता ही नहीं है कि भक्ति क्या होती है? शरणागति क्या होती है? वे इन बातोंको समझ ही नहीं सकते, परंतु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि भगवान्‌का भक्त दरिद्र होता ही है, उसका संसारमें अपमान होता ही है, उसकी निन्दा होती ही है। शरणागत भक्तको तो निन्दा-प्रशंसा, रोग-नीरोगता आदिसे कोई मतलब ही नहीं होता। इनकी तरफ वह देखता ही नहीं। वह यही देखता है कि मैं हूँ और भगवान् हैं, बस। अब संसारमें क्या है, क्या नहीं है? त्रिलोकीमें क्या है, क्या नहीं है? प्रभु

ऐसे हैं, वे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले हैं—इन बातोंकी तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं।

किसीने एक सन्तसे पूछा—'आप किस भगवान्‌के भक्त हो? जो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करते हैं, उनके भक्त हो क्या?' तो उस सन्तने उत्तर दिया—'हमारे भगवान्‌का तो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयके साथ कोई सम्बन्ध है ही नहीं। यह तो हमारे प्रभुका एक ऐश्वर्य है। यह कोई विशेष बात नहीं है।' शरणागत भक्तको ऐसा होना चाहिये। ऐश्वर्य आदिकी तरफ उसकी दृष्टि ही नहीं होनी चाहिये।

ऋषिकेशमें गंगाजीके किनारे टीबड़ीपर शामको सत्संग हो रहा था। गरमी पड़ रही थी। उधरसे गंगाजीकी ठण्डी हवाकी लहर आयी तो एक सज्जनने कहा—'कैसी ठण्डी हवाकी लहर आ रही है!' पास बैठे दूसरे सज्जनने उनसे कहा—'हवाको देखनेके लिये तुम्हें वक्त कैसे मिल गया? यह ठण्डी हवा आयी, यह गरम हवा आयी—इस तरफ तुम्हारा खयाल कैसे चला गया?' भगवान्‌के भजनमें लगे हो तो हवा ठण्डी आयी या गरम आयी, सुख आया या दुःख आया—इस तरफ जबतक खयाल है, तबतक भगवान्‌की तरफ खयाल कहाँ? इसी विषयमें हमने एक कहानी सुनी है। कहानी तो नीचे दर्जेकी है, पर उसका निष्कर्ष बड़ा अच्छा है।

एक कुलटा स्त्री थी। उसको किसी पुरुषसे संकेत मिला कि इस समय अमुक स्थानपर तुम आ जाना। तो वह समयपर अपने प्रेमीके पास जा रही थी। रास्तेमें एक मस्जिद पड़ती थी। मस्जिदकी दीवारें छोटी-छोटी थीं। दीवारके पास ही वहाँका

मौलवी झुककर नमाज पढ़ रहा था। वह कुलटा अनजानेमें उसके ऊपर पैर रखकर निकल गयी। मौलवीको बड़ा गुस्सा आया कि कैसी औरत है यह! इसने मेरेपर जूतीसहित पैर रखकर हमको नापाक (अशुद्ध) बना दिया! वह वहीं बैठकर उसको देखता रहा कि कब आयेगी। जब वह कुलटा पीछे लौटकर आयी तो मौलवीने उसको धमकाया कि 'कैसी बेअक्ल हो तुम! हम परवरदिगारकी बंदगीमें बैठे थे, नमाज पढ़ रहे थे और तुम हमारेपर पैर रखकर चली गयी!' तब वह बोली—

मैं नर-राची ना लखी, तुम कस लख्यो सुजान।
पढ़ि कुरान बौरा भया, राच्यो नहिं रहमान॥

एक पुरुषके ध्यानमें रहनेके कारण मेरेको इसका पता ही नहीं लगा कि सामने दीवार है या कोई मनुष्य है, पर तू तो भगवान्‌के ध्यानमें था, फिर तूने मेरेको कैसे पहचान लिया कि वह यही थी? तू केवल कुरान पढ़-पढ़कर बावला हो गया है। अगर तू भगवान्‌के ध्यानमें रचा हुआ होता तो मुझे पहचान लेता? कौन आया, कैसे आया, मनुष्य था कि पशु-पक्षी था, क्या था, क्या नहीं था, कौन ऊपर आया, कौन नीचे आया, किसने पैर रखा—इधर तेरा खयाल ही क्यों जाता? तात्पर्य है कि एक भगवान्‌को छोड़कर किसीकी तरफ ध्यान ही कैसे जाय? दूसरी बातोंका पता ही कैसे लगे? जबतक दूसरी बातोंका पता लगता है तबतक वह शरण कहाँ हुआ?

कौरव-पाण्डव जब लड़के थे तो वे अस्त्र-शस्त्र सीख रहे थे। सीखकर जब तैयार हो गये तो उनकी परीक्षा ली गयी। एक वृक्षपर एक बनावटी चिड़िया बैठा दी गयी और सबसे

कहा गया कि उस चिड़ियाके कण्ठपर तीर मारकर दिखाओ। एक-एक करके सभी आने लगे। गुरुजी पहले सबसे अलग-अलग पूछते कि बताओ तुम्हें वहाँ क्या दीख रहा है? तो कोई कहता कि हमें तो वृक्ष दीखता है; कोई कहता कि हमें तो टहनी दीखती है; कोई कहता कि हमें तो चिड़िया दीखती है, चोंच भी दीखती है, पंख भी दीखते हैं। ऐसा कहनेवालोंको वहाँसे हटा दिया गया। जब अर्जुनकी बारी आयी तो उनसे पूछा गया कि तुमको क्या दीखता है तो अर्जुनने कहा कि मेरेको तो केवल कण्ठ ही दीखता है और कुछ भी नहीं दीखता। तब अर्जुनसे बाण मारनेके लिये कहा गया। अर्जुनने अपने बाणसे उस चिड़ियाका कण्ठ बेध दिया क्योंकि उसकी लक्ष्यपर दृष्टि ठीक थी। अगर चिड़िया दीखती है, वृक्ष, टहनी आदि दीखते हैं तो लक्ष्य कहाँ सँधा है? अभी तो दृष्टि फैली हुई है। लक्ष्य होनेपर तो वही दीखेगा, जो लक्ष्य होगा। लक्ष्यके सिवाय दूसरा कुछ दीखेगा ही नहीं। इसी प्रकार जबतक मनुष्यका लक्ष्य एक नहीं हुआ है, तबतक वह अनन्य कैसे हुआ? अव्यभिचारी 'अनन्ययोग' होना चाहिये—'**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**' (गीता १३। १०)। 'अन्ययोग' नहीं होना चाहिये अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, अहं आदिकी सहायता नहीं होनी चाहिये। वहाँ तो केवल एक भगवान् ही होने चाहिये।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजसे किसीने कहा—'तुम जिन रामललाकी भक्ति करते हो, वे तो बारह कलाके अवतार हैं, पर सूरदासजी जिन भगवान् कृष्णकी भक्ति करते हैं, वे सोलह कलाके अवतार हैं! यह सुनते ही गोस्वामीजी महाराज

उसके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'अहो! आपने बड़ी भारी कृपा कर दी! मैं तो रामको दशरथजीके लाडले कुँवर समझकर ही भक्ति करता था। अब पता लगा कि वे बारह कलाके अवतार हैं! इतने बड़े हैं वे? आपने आज नयी बात बताकर बड़ा उपकार किया।' अब कृष्ण सोलह कलाके अवतार हैं—यह बात उन्होंने सुनी ही नहीं, इस तरफ उनका ध्यान ही नहीं गया।

भगवान्‌के प्रति भक्तोंके अलग-अलग भाव होते हैं। कोई कहता है कि दशरथजीकी गोदमें खेलनेवाले जो रामलला हैं, वे ही हमारे इष्ट हैं—'**इष्टदेव मम बालक रामा**' (मानस ७। ७५। ३); राजाधिराज रामचन्द्रजी नहीं, छोटा-सा रामलला। कोई भक्त कहता है कि हमारे इष्ट तो लड्डूगोपाल हैं, नन्दके लाला हैं। वे भक्त अपने रामललाको, नन्दलालाको सन्तोंसे आशीर्वाद दिलाते हैं तो भगवान्‌को यह बहुत प्यारा लगता है। तात्पर्य है कि भक्तोंकी दृष्टि भगवान्‌के ऐश्वर्यकी तरफ जाती ही नहीं।

या ब्रजरज की परस से, मुकति मिलत है चार।
वा रजको नित गोपिका, डारत डगर बुहार॥

आँगनकी जिस रजमें कन्हैया खेलते हैं, वह रज कोई ले ले तो उसको चारों प्रकारकी मुक्ति मिल जाय। पर यशोदा मैया उसी रजको बुहारकर बाहर फेंक देती है। मैयाके लिये तो वह कूड़ा-करकट है। अब मुक्ति किसको चाहिये? मैयाका केवल कन्हैयाकी तरफ ही खयाल है। न तो कन्हैयाके ऐश्वर्यकी तरफ खयाल है और न योग्यताकी तरफ ही खयाल है।

सन्तोंने कहा है कि अगर भगवान्‌से मिलना हो तो साथमें

साथी नहीं होना चाहिये और सामान भी नहीं होना चाहिये अर्थात् साथी और सामानके बिना उनसे मिलो। जब साथी, सहारा साथमें है तो तुम क्या मिले भगवान्से? और मन, बुद्धि, विद्या, धन आदि सामान साथमें बँधा रहेगा। तो उसका परदा (व्यवधान) रहेगा। परदेमें मिलन थोड़े ही होता है? वहाँ तो कपड़ेका भी व्यवधान होता है। कपड़ा ही नहीं, माला भी आड़में आ जाय तो मिलन क्या हुआ? इस वास्ते साथमें कोई साथी और सामान न हो तो भगवान्से जो मिलन होगा, वह बड़ा विलक्षण और दिव्य होगा।

एक महात्माजीको खेतमें काम करनेवाला एक व्रजवासी ग्वाला मिल गया। वह भगवान्का भक्त था। महात्माजीने उससे पूछा—'तुम क्या करते हो?' उसने कहा—'हम तो अपने लाला कन्हैयाका काम करते हैं।' महात्माजीने कहा—'हम भगवान्के अनन्य भक्त हैं, तुम क्या हो?' उसने कहा—'हम फनन्य भक्त हैं।' महात्माजीने पूछा—'फनन्य भक्त क्या होता है?' तो उसने भी पूछा—'अनन्य भक्त क्या होता है?' महात्माजीने कहा—'अनन्य भक्त वह होता है जो सूर्य, शक्ति, गणेश, ब्रह्मा आदि किसीको भी न माने, केवल हमारे कन्हैयाको ही माने।' उसने कहा—'बाबाजी, हम तो इनका नाम भी नहीं जानते कि ये क्या होते हैं, क्या नहीं होते; हमें इनका पता ही नहीं है; तो हम फनन्य हो गये कि नहीं?' इस प्रकार ब्रह्म क्या होता है? आत्मा क्या होती है? सगुण और निर्गुण क्या होता है? साकार और निराकार क्या होता है? इत्यादि बातोंकी तरफ शरणागत भक्तका खयाल ही नहीं होना चाहिये।

व्रजकी एक बात है। एक सन्त कुएँपर किसीसे बात कर रहे थे कि ब्रह्म है, परमात्मा है, जीवात्मा है आदि। वहाँ एक गोपी जल भरने आयी। उसने कान लगाया कि बाबाजी क्या बात कर रहे हैं। जब वह गोपी दूसरी गोपीसे मिली तो उससे पूछा—'अरी सखी! यह ब्रह्म क्या होता है?' उसने कहा—'हमारे लालाका ही कोई अड़ोसी-पड़ोसी, सगा-सम्बन्धी होगा! हमलोग तो जानती नहीं सखी! ये लोग उसीकी धुनमें लगे हैं न? इस वास्ते सब जानते हैं। हमारे तो एक नन्दके लाला ही हैं। कोई काम हो तो नन्दबाबासे कह देंगे, गिरिराजसे कह देंगे कि महाराज! आप कृपा करो। कन्हैया तो भोला-भाला है, वह क्या समझेगा और क्या करेगा? कन्हैयासे क्या मिलेगा? अरी सखी! वह कन्हैया हमारा है, और क्या मिलेगा?' हम भी अकेले हैं और वह कन्हैया भी अकेला है। हमारे पास भी कुछ सामान नहीं और उसके पास भी कुछ सामान नहीं, बिलकुल नंग-धड़ंग बाबा—'**नगन मूरति बाल-गोपालकी, कतरनी बरनी जग जालकी**।' अब ऐसे कन्हैयासे क्या मिलेगा।

यशोदा मैया दाऊजीसे कहती हैं—'देख दाऊ! यह कन्हैया बहुत भोला-भाला है, तू इसका खयाल रखा कर कि कहीं यह जंगलमें दूर न चला जाय।' दाऊजी कहते हैं—'मैया! यह कन्हैया बड़ा चंचल है। जंगलमें मेरे साथ चलता है तो चलते-चलते कोई साँपका बिल देखता है तो उसमें हाथ डाल देता है, अब इसे कोई साँप काट ले तो?' मैया कहती है—'बेटा! अभी यह छोटा-सा अबोध बालक है, तू बड़ा है, इस वास्ते तू इसकी निगाह रखा कर।' अब दाऊ भैया

और सब ग्वाल-बाल कन्हैयाकी निगाह रखते हैं। ग्वाल-बाल और यशोदा मैयासे कोई कहे कि कन्हैया तो सब दुनियाका पालन करता है तो वे यही कहेंगे कि तुम्हारा ऐसा भगवान् होगा जो सब दुनियाका पालन करता होगा। हमारा तो ऐसा नहीं है। हमारा छोटा-सा कन्हैया दुनियाका क्या पालन करेगा?

एक बाबाजीकी गोपियोंसे बातचीत चली। वे बाबाजी बात करते-करते कहने लगे कि कृष्ण इतने ऐश्वर्यशाली हैं, उनका इतना माधुर्य है, उनके पास ऐश्वर्यका इतना खजाना है आदि, तो गोपियाँ कहने लगीं—'महाराज! उस खजानेकी चाबी तो हमारे पास है! कन्हैयाके पास क्या है? उसके पास तो कुछ भी नहीं है। कोई उससे माँगेगा तो वह कहाँसे देगा?' इस वास्ते किसीको कुछ चाहिये तो कन्हैयाके पास न जाये। कन्हैयाके पास, उसकी शरणमें तो वही जाये, जिसको कभी कुछ नहीं चाहिये। किसी भी अवस्थामें कुछ भी नहीं चाहिये। अर्थात् विपत्ति, मौत आदिकी अवस्थामें भी 'मेरी थोड़ी सहायता कर दो, रक्षा कर दो' ऐसा भाव नहीं हो।

भगवान् श्रीरामसे वाल्मीकिजी कहते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

(मानस २। १३१)

कुछ भी चाहनेका भाव न होनेसे भगवान् स्वाभाविक ही प्यारे लगते हैं, मीठे लगते हैं—'**तुम्ह सन सहज सनेहु**' जिसमें चाह नहीं है, वह भगवान्‌का खास घर है—'**सो राउर निज गेहु।**' यदि

चाहना भी साथमें रखें और भगवान्‌को भी साथमें रखें तो वह भगवान्‌का खास घर नहीं है। भगवान्‌के साथ 'सहज' स्नेह हो, स्नेहमें कोई मिलावट न हो अर्थात् कुछ भी चाहना न हो। जहाँ कुछ भी चाहना हो जाय, वहाँ प्रेम कैसा? वहाँ तो आसक्ति, वासना, मोह, ममता ही होते हैं। इस वास्ते गोपियाँ सावधान करती हुई कहती हैं—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बविम्बे धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम्॥

'अरे पथिको! उस गलीसे मत जाना, वह बड़ी भयावनी है! वहाँ अपने नितम्बविम्बपर दोनों हाथ रखे जो तमालके समान नीले रंगका एक नंग-धड़ंग बालक खड़ा है, वह केवल देखनेमात्रका अवधूत है। वास्तवमें तो वह अपने पासमेंसे होकर निकलनेवाले किसी भी पथिकके चित्तरूपी धनको लूटे बिना नहीं रहता।'

वह जो काला-काला नंग-धड़ंग बालक खड़ा है न? उससे तुम लुट जाओगे, रीते रह जाओगे! वह ऐसा चोर है कि सब खत्म कर देगा। उधर जाना ही मत, पहले ही खयाल रखना। अगर चले गये तो फिर सदाके लिये ही चले गये! इस वास्ते कोई अच्छी तरहसे जीना चाहे तो उधर मत जाय। उसका नाम कृष्ण है न? कृष्ण कहते हैं खींचनेवालेको। एक बार खींच ले तो फिर छोड़े ही नहीं। उससे पहचान न हो, तबतक तो ठीक है। अगर उससे पहचान हो गयी तो फिर मामला खत्म। फिर किसी कामके नहीं रहोगे, त्रिलोकीभरमें निकम्मे हो जाओगे!

'नारायन' बौरी भई डोलै, रही न काहू काम की॥
जाहि लगन लगी घनस्याम की।

हाँ, जो किसी कामका नहीं होता, वह सबके लिये सब कामका होता है। परंतु उसको किसी कामसे कोई मतलब नहीं होता।

शरणागत भक्तको भजन भी करना नहीं पड़ता। उसके द्वारा स्वतः स्वाभाविक भजन होता है। भगवान्‌का नाम उसे स्वाभाविक ही बड़ा मीठा, प्यारा लगता है। अगर कोई पूछे कि तुम श्वास क्यों लेते हो? यह हवाको भीतर-बाहर करनेका क्या धन्धा शुरू कर रखा है? तो यही कहेंगे कि भाई! यह धन्धा नहीं है, इसके बिना हम जी ही नहीं सकते। ऐसे ही शरणागत भक्त भजनके बिना रह ही नहीं सकता। जिसको सब कुछ अर्पित कर दिया, उसके विस्मरणमें परम व्याकुलता, महान् छटपटाहट होने लगती है—'**तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति**' (नारदभक्तिसूत्र १९)। ऐसे भक्तसे अगर कोई कहे कि आधे क्षणके लिये भगवान्‌को भूल जाओ तो त्रिलोकीका राज्य मिलेगा तो वह इसे भी ठुकरा देगा। भागवतमें आया है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ५३)

'तीनों लोकोंके समस्त ऐश्वर्यके लिये भी उन देवदुर्लभ भगवच्चरणकमलोंको जो आधे निमेषके लिये भी नहीं त्याग सकते, वे ही श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं।'

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

'भगवान् कहते हैं कि स्वयंको मेरे अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य, पातालादि लोकोंका राज्य, योगकी समस्त सिद्धियाँ और मोक्षको भी नहीं चाहता।'

भरतजी कहते हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

(मानस २। २०४)

प्रेम-सम्बन्धी विशेष बात—

चित्तसे सब कर्म भगवान्‌के अर्पित करनेसे संसारसे नित्यवियोग हो जाता है* और भगवान्‌के परायण होनेसे भगवान्‌से नित्ययोग

* वास्तवमें संसारके साथ कभी संयोग हो नहीं सकता। उसका तो नित्य ही वियोग रहता है। जैसे, मनमें किसी वस्तुका चिन्तन होता है, तो वह उस वस्तुका माना हुआ संयोग है, जिससे उस वस्तुके न मिलनेका दुःख होता है। जब वस्तु (बाहरसे) मिल जाती है, तब उस वस्तुका भीतरसे वियोग हो जाता है, जिससे सुख होता है। ऐसे ही किसी कारणसे बाहरसे वस्तु चली जाय, नष्ट हो जाय, तो मनसे उस वस्तुका संयोग होनेपर दुःख होता है और विवेक विचारके द्वारा 'यह वस्तु हमारी थी ही नहीं, हमारी हो सकती ही नहीं' 'इस प्रकार वस्तुको मनसे निकाल देनेपर सुख होता है। तात्पर्य यह है कि भीतरसे संयोग माना तो बाहरसे वियोग है और बाहरसे संयोग माना तो भीतरसे वियोग है। अतः वास्तवमें संसारके साथ नित्य वियोग ही रहता है। मनुष्य केवल भूलसे संसारके साथ संयोग मान लेता है।

हो जाता है। इस नित्ययोग (प्रेम)-में योग, नित्ययोगमें वियोग, वियोगमें नित्ययोग और वियोगमें वियोग—ये चार अवस्थाएँ चित्तकी वृत्तियोंको लेकर होती हैं। इन चारों अवस्थाओंको इस प्रकार समझना चाहिये—

जैसे, श्रीराधा और श्रीकृष्णका परस्पर मिलन होता है, तो यह 'नित्ययोगमें योग' है। मिलन होनेपर भी श्रीजीमें ऐसा भाव आ जाता है कि प्रियतम कहीं चले गये हैं और वे एकदम कह उठती हैं कि 'प्यारे! तुम कहाँ चले गये!' तो यह 'नित्ययोगमें वियोग' है। श्यामसुन्दर सामने नहीं हैं, पर मनसे उन्हींका गाढ़ चिन्तन हो रहा है और वे मनसे प्रत्यक्ष मिलते हुए दीख रहे हैं, तो यह 'वियोगमें नित्ययोग' है। श्यामसुन्दर थोड़े समयके लिये सामने नहीं आये, पर मनमें ऐसा भाव है कि बहुत समय बीत गया, श्यामसुन्दर मिले नहीं, क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? श्यामसुन्दर कैसे मिलें? तो यह 'वियोगमें वियोग' है।

वास्तवमें इन चारों अवस्थाओंमें भगवान्के साथ नित्ययोग ज्यों-का-त्यों बना रहता है, वियोग कभी होता ही नहीं, हो सकता ही नहीं और होनेकी सम्भावना भी नहीं। इसी नित्ययोगको 'प्रेम' कहते हैं; क्योंकि प्रेममें प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों अभिन्न रहते हैं। वहाँ भिन्नता कभी हो ही नहीं सकती। प्रेमका आदान-प्रदान करनेके लिये ही भक्त और भगवान्में संयोग-वियोगकी लीला हुआ करती है।

यह प्रेम प्रतिक्षण वर्द्धमान किस प्रकार है? जब प्रेमी और प्रेमास्पद परस्पर मिलते हैं, तब 'प्रियतम पहले चले गये थे, उनसे वियोग हो गया था; अब कहीं ये फिर न चले

जायँ!'* इस भावके कारण प्रेमास्पदके मिलनेमें तृप्ति नहीं होती, संतोष नहीं होता। वे चले जायँगे—इस बातको लेकर मन ज्यादा खिंचता है। इस वास्ते इस प्रेमको प्रतिक्षण वर्द्धमान बताया है।

'प्रेम' (भक्ति)-में चार प्रकारका रस अथवा रति होती है—दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इन रसोंमें दास्यसे सख्य, सख्यसे वात्सल्य और वात्सल्यसे माधुर्य-रस श्रेष्ठ है; क्योंकि इनमें क्रमशः भगवान्‌के ऐश्वर्यकी विस्मृति ज्यादा होती चली जाती है। परंतु जब इन चारोंमेंसे कोई एक भी रस पूर्णतामें पहुँच जाता है, तब उसमें दूसरे रसोंकी कमी नहीं रहती अर्थात् उसमें सभी रस आ जाते हैं। जैसे दास्यरस, पूर्णतामें पहुँच जाता है तो उसमें सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—तीनों रस आ जाते हैं। यही बात अन्य रसोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। कारण यह है कि भगवान् पूर्ण हैं, उनका प्रेम भी पूर्ण है और परमात्माका अंश होनेसे जीव स्वयं भी पूर्ण है। अपूर्णता तो केवल संसारसे सम्बन्ध होनेसे ही आती है। इस वास्ते भगवान्‌के साथ किसी भी रीतिसे रति हो जायगी तो वह पूर्ण हो जायगी, उसमें कोई कमी नहीं रहेगी।

'दास्य' रतिमें भक्तका भगवान्‌के प्रति यह भाव रहता है कि भगवान् मेरे स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ। मेरेपर उनका पूरा अधिकार है। वे चाहे जो करें, चाहे जैसी परिस्थितिमें रखें और मेरेसे चाहे जैसा काम लें। मेरेपर अत्यधिक अपनापन होनेसे ही वे बिना मेरी सम्मति लिये ही मेरे लिये सब विधान करते हैं।

---

* योग और वियोगमें प्रेम-रसकी वृद्धि होती है। यदि सदा योग ही रहे, वियोग न हो, तो प्रेम-रस बढ़ेगा नहीं, प्रत्युत अखण्ड और एकरस रहेगा। इस वास्ते प्रेम-रसको बढ़ानेके लिये भगवान् अन्तर्धान भी हो जाते हैं।

'**सख्य**' रतिमें भक्तका भगवान्के प्रति यह भाव रहता है कि भगवान् मेरे सखा हैं और मैं उनका सखा हूँ। वे मेरे प्यारे हैं और मैं उनका प्यारा हूँ। उनका मेरेपर पूरा अधिकार है और मेरा उनपर पूरा अधिकार है। इस वास्ते मैं उनकी बात मानता हूँ, तो मेरी भी बात उनको माननी पड़ेगी।

'**वात्सल्य**' रतिमें भक्तका अपनेमें स्वामिभाव रहता है कि मैं भगवान्की माता हूँ या मैं उनका पिता हूँ अथवा मैं उनका गुरु हूँ और वह तो हमारा बच्चा है अथवा शिष्य है; इस वास्ते उनका पालन-पोषण करना है। उनकी निगरानी भी रखनी है कि कहीं वह अपना नुकसान न कर ले! जैसे—नन्दबाबा और यशोदा मैया कन्हैयाका खयाल रखते हैं और कन्हैया वनमें जाता है तो उसकी निगरानी रखनेके लिये दाऊजीको साथमें भेजते हैं!

'**माधुर्य**'* रतिमें भक्तको भगवान्के ऐश्वर्यकी विशेष स्मृति

---

* लोग प्राय: माधुर्यभावमें स्त्री-पुरुषका भाव ही समझते हैं; परंतु यह भाव स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें ही होता है—यह नियम नहीं है। माधुर्य नाम मधुरता अर्थात् मिठासका है और वह मिठास आती है भगवान्के साथ अभिन्नता होनेसे। वह अभिन्नता जितनी अधिक होगी, मधुरता भी उतनी ही अधिक होगी। इस वास्ते दास्य, सख्य और वात्सल्यभावमेंसे किसी भी भावमें पूर्णता होनेपर उसमें मधुरता कम नहीं रहेगी। अत: भक्तिके सभी भावोंमें माधुर्यभाव रहता है।

अभेद और अभिन्नतामें भेद है। जिसमें केवल एक तत्त्व ही रह जाय, द्वैतभाव सर्वथा समाप्त हो जाय, उसका नाम 'अभेद' है और दो होते हुए भी एक रहनेका नाम 'अभिन्नता' है; जैसे— दो मित्रोंमें भीतरसे घनिष्ठता होनेसे अभिन्नता रहती है। अभिन्नता जितनी गाढ़ होती है, उतना ही माधुर्यरस प्रकट होता है। इसीको प्रेम-रस कहते हैं। भगवान् भी इस प्रेम-रसके लोभी हैं। इस प्रेम-रसका आस्वादन करनेके लिये ही भगवान् एकसे अनेक रूपोंमें हो जाते हैं— 'एकाकी न रमते' (बृहदारण्यक० १।४।३), 'सदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' (छान्दोग्य० ६।२।३)।

रहती है, इस वास्ते इस रतिमें भक्त भगवान्के साथ अपनी अभिन्नता (घनिष्ठ अपनापन) मानता है। अभिन्नता माननेसे 'उनके लिये सुखदायी सामग्री जुटानी है, उन्हें सुख-आराम पहुँचाना है, उनको किसी तरहकी कोई तकलीफ न हो'—ऐसा भाव बना रहता है।

प्रेम-रस अलौकिक है, चिन्मय है। इसका आस्वादन करनेवाले केवल भगवान् ही होते हैं। प्रेममें प्रेमी और प्रेमास्पद—दोनों ही चिन्मय-तत्त्व होते हैं। कभी प्रेमी प्रेमास्पद बन जाता है और कभी प्रेमास्पद प्रेमी हो जाता है। इस वास्ते एक चिन्मय-तत्त्व ही प्रेमका आस्वादन करनेके लिये दो रूपोंमें हो जाता है।

प्रेमके तत्त्वको न समझनेके कारण कुछ लोग सांसारिक कामको ही प्रेम कह देते हैं। उनका यह कहना बिलकुल गलत है; क्योंकि काम तो चौरासी लाख योनियोंके सम्पूर्ण जीवोंमें रहता है और उन जीवोंमें भी जो भूत, प्रेत, पिशाच होते हैं, उनमें काम (सुखभोगकी इच्छा) अत्यधिक होता है। परंतु प्रेमके अधिकारी जीवन्मुक्त महापुरुष ही होते हैं।

काममें लेने-ही-लेनेकी भावना होती है और प्रेममें देने-ही-देनेकी भावना होती है। काममें अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करने—उनसे सुख भोगनेका भाव रहता है और प्रेममें अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचाने तथा सेवा-परायण रहनेका भाव रहता है। काम केवल शरीरको लेकर ही होता है और प्रेम स्थूलदृष्टिसे शरीरमें दीखते हुए भी वास्तवमें चिन्मय-तत्त्वसे ही होता है। काममें मोह (मूढ़भाव) रहता है और प्रेममें मोहकी गन्ध भी नहीं रहती। काममें संसार तथा संसारका दु:ख भरा रहता है और प्रेममें मुक्ति तथा मुक्तिसे भी विलक्षण

आनन्द रहता है। काममें जड़ता (शरीर, इन्द्रियाँ आदि)-की मुख्यता रहती है और प्रेममें चिन्मयता (चेतन स्वरूप)-की मुख्यता रहती है। काममें राग होता है और प्रेममें त्याग होता है। काममें परतन्त्रता होती है और प्रेममें परतन्त्रताका लेश भी नहीं होता अर्थात् स्वतन्त्रता होती है। काममें 'वह मेरे काममें आ जाय' ऐसा भाव रहता है और प्रेममें 'मैं उसके काममें आ जाऊँ' ऐसा भाव रहता है। काममें कामी भोग्य वस्तुका गुलाम बन जाता है और प्रेममें स्वयं भगवान् प्रेमीके गुलाम बन जाते हैं। कामका रस नीरसतामें बदलता है और प्रेमका रस आनन्दरूपसे प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। काम खिन्नतासे पैदा होता है और प्रेम प्रेमास्पदकी प्रसन्नतासे प्रकट होता है। काममें अपनी प्रसन्नताका ही उद्देश्य रहता है और प्रेममें प्रेमास्पदकी प्रसन्नताका ही उद्देश्य रहता है। काम-मार्ग नरकोंकी तरफ ले जाता है और प्रेम-मार्ग भगवान्‌की तरफ ले जाता है। काममें दो होकर दो ही रहते हैं अर्थात् द्वैधीभाव (भिन्नता या भेद) कभी मिटता नहीं और प्रेममें एक होकर दो होते हैं अर्थात् अभिन्नता कभी मिटती नहीं*।

---

* द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥
पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका॥

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहके लिये होता है। परंतु बोध हो जानेपर भक्तिके लिये बुद्धिसे कल्पित द्वैत-अद्वैतसे अधिक सुन्दर है।'

'वास्तविक तत्त्व तो अद्वैत ही है, पर भजनके लिये द्वैत है। ऐसी यदि भक्ति है तो वह भक्ति मुक्तिसे भी सौगुनी श्रेष्ठ है।'

॥ श्रीहरि: ॥

ज्ञान किसी अभ्याससे पैदा नहीं होता, प्रत्युत जो वास्तवमें है, उसको वैसा ही यथार्थ जान लेनेका नाम 'ज्ञान' है। '**वासुदेवः सर्वम्**' (सब कुछ परमात्मा ही हैं)—यह ज्ञान वास्तवमें है ही ऐसा। यह कोई नया बनाया हुआ ज्ञान नहीं है, प्रत्युय स्वत:सिद्ध है। अतः भगवान्‌की वाणीसे हमें इस बातका पता लग गया है कि सब कुछ परमात्मा ही है, यह कितने आनन्दकी बात है! यह ऊँचा-से-ऊँचा ज्ञान है। इससे बढ़कर कोई ज्ञान है ही नहीं। कोई भले ही सब शास्त्र पढ़ ले, वेद पढ़ ले, पुराण पढ़ ले, पर अन्तमें यही बात रहेगी कि सब कुछ परमात्मा ही है; क्योंकि वास्तवमें बात है ही यही!

संसारमें प्रायः कोई भी आदमी यह नहीं बताता कि मेरे पास इतना धन है, इतनी सम्पत्ति है, इतनी विद्या है, इतना कला-कौशल है। परन्तु भगवान्‌ने ऊँचे-से-ऊँचे महात्माके हृदयकी गुप्त बात हमें सीधे शब्दोंमें बता दी कि सब कुछ परमात्मा ही है। इससे बढ़कर उनकी क्या कृपा होगी!

—वासुदेवः सर्वम् नामक पुस्तकसे

[साधकको चाहिये कि वह एकान्तमें बैठकर शुद्ध वृत्तिसे '**सहज साधना**' नामक पुस्तकके अन्तर्गत '**वर्णनातीतका वर्णन**' नामक लेखको पढ़े। केवल शब्दोंपर दृष्टि न रखकर अर्थ एवं तत्त्वकी तरफ दृष्टि रखते हुए पढ़े, पढ़कर विचार करे और विचार करके बाहर-भीतरसे चुप हो जाय तो तत्त्वमें स्वत:सिद्ध स्थिरता जाग्रत् हो जायगी अर्थात् सहजावस्थाका अनुभव हो जायगा और मनुष्यजीवन सफल हो जायगा।]

—सहज साधना नामक पुस्तकसे